सदानन्द योगीन्द्र कृत

वेदान्त-सार

सदानन्द योगीन्द्र कृत

वेदान्त-सार

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग,
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

अनुवादक :
स्वामी विदेहात्मानन्द

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प १६४

[व ०९ : प्र ३०]

प्रथम संस्करण : २००३
द्वितीय संस्करण : २००९

मूल्य : रु. १८.००

मुद्रक :
गीरनार ग्राफिक्स, नागपुर

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

सदानन्द योगीन्द्र कृत 'वेदान्त-सार' हिन्दी अनुवाद के साथ हमारा यह नया प्रकाशन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें अपार आनन्द हो रहा है।

सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारतवर्ष में जीव-जगत् तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों पर गम्भीर चिन्तन के माध्यम से उनकी जो मीमांसा की गयी थी, उपनिषदों में उन्हीं का संकलन है। वैसे तो उनकी संख्या दो सौ से भी अधिक है, परन्तु आदि शंकराचार्यजी ने जिन दस पर भाष्य लिखा है और जिन चार-पाँच का उल्लेख किया है, उन्हें ही प्राचीनतम तथा प्रमुख माना जाता है। इन उपनिषदों में वेदों का 'ज्ञानकाण्ड' निहित है और इनमें प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को 'वेदान्त' की संज्ञा दी गयी है।

भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजी के काल से ही इस पर प्रकरण-ग्रन्थ लिखने की परम्परा शुरू हुई। सदानन्द योगीन्द्र द्वारा रचित यह 'वेदान्त-सार' ग्रन्थ भी उसी परम्परा की एक कड़ी है, जो संक्षेप में वेदान्त की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करता है और उसे भलीभाँति समझने के लिए अतीव उपयोगी है। इसमें सूत्र रूप में वेदान्त की सम्यक् व्याख्या दी गई है। गौड़पाद, शंकराचार्य, पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वराचार्य, सर्वज्ञात्म-मुनि, वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष, चित्सुखाचार्य तथा विद्यारण्य आदि वेदान्त के प्रमुख व्याख्याकारों के ग्रन्थों को समझने के लिए यह 'वेदान्त-सार' ग्रन्थ एक भूमिका के समान है।

विद्वानों ने विविध तथ्यों के आधार पर अनुमान लगाया है कि इस ग्रन्थ की रचना १५वीं शताब्दी के मध्य भाग में हुई। इस ग्रन्थ में वेदान्त की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण बातों का अत्यन्त सहज तथा क्रमबद्ध रूप से प्रतिपादन हुआ है।

इस ग्रन्थ की लोकप्रियता इसी बात से सिद्ध है कि इसके हिन्दी में भी

अनेकानेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। तथापि प्रस्तुत अनुवाद की अपनी स्वयं की भी कुछ विशेषता है। प्राचीन काल में जब संस्कृत भाषा ही शिक्षा का प्रमुख माध्यम थी, तब इन दुरूह ग्रन्थों को पढ़ना तथा इनके गूढ़ तात्पर्य को समझना उतना कठिन नहीं था, परन्तु देवभाषा का पठन-पाठन क्रमश: अप्रचलित होते जाने के कारण अल्प संस्कृत जाननेवालों के लिये इनका अध्ययन सहज नहीं रह गया है। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार गद्य में सन्धि का प्रयोग वैकल्पिक बताया गया है, अत: हमने यहाँ पर सामान्य अध्येताओं को इस अध्ययन में प्रोत्साहित करने हेतु भाष्य की कठिन सन्धियों कोतोड़कर उन्हें सरल रूप देने का प्रयास किया है।

इस ग्रन्थ का अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.) द्वारा प्रकाशित 'विवेक-ज्योति' मासिक के सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है। इसके लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों तथा साधकों के लिए निश्चित रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

नागपुर
दि. १.३.२००३
महाशिवरात्री

— प्रकाशक

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

'वेदान्त-सार' पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के सम्मुख रखते हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में बहुत सारी त्रुटियाँ रह गई थीं। इस संस्करण में उन त्रुटियां को सुधारा गया है। इस पुस्तक से सुधी पाठक अधिक लाभान्वित होंगे ऐसा हमें विश्वास है।

नागपुर
दि. २३.५.२००९

— प्रकाशक

विषयानुक्रमणिका

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

वेदान्त-सार

अध्याय १

मंगलाचरण

अखण्डं सच्चिदानन्दम् अवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानम् अखिलाधारम् आश्रये अभीष्टसिद्धये।।१।।

– जो मन-वाणी के अगोचर तथा सब जीवों की अन्तरात्मा तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आधार हैं; (ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्ति रूप) अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि हेतु मैं उन्हीं अखण्ड सच्चिदानन्द (ब्रह्म) की शरण लेता हूँ।

अर्थतः अपि अद्वयानन्दान् अतीत-द्वैतभानतः।
गुरून् आराध्य वेदान्त-सारं वक्ष्ये यथामति।।२।।

– जो नाम से (अद्वयानन्द) और द्वैतबोध के परे जा चुके होने के कारण अर्थ से भी अद्वयानन्द हैं, उन गुरु की वन्दना करके अब मैं अपनी समझ के अनुसार वेदान्त का सार कहूँगा।

वेदान्तो नाम-उपनिषत् प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरक-सूत्रादीनि च।।३।।

– उपनिषद रूपी प्रमाण को वेदान्त कहते हैं और उसके सहायक ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ भी वेदान्त कहलाते हैं।

अस्य वेदान्त-प्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैः तद्वत्ता-सिद्धेः न ते पृथक्-आलोचनीयाः।।४।।

– प्रस्तुत पुस्तक के वेदान्त के प्रकरण-ग्रन्थ होने के कारण उसी के अनुबन्धों (आकांक्षित सम्बन्धों) द्वारा इसकी भी अनुबन्ध-सिद्धि हो जाती है, अतः उन पर अलग से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

अनुबन्ध-चतुष्टय

तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारि-विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनानि।।५।।

– (वेदान्त के) वे (चार) अनुबन्ध हैं – ग्रन्थ पढ़ने का अधिकारी, प्रतिपाद्य विषय, (प्रतिपाद्य विषय के साथ प्रतिपादक ग्रन्थ का बोध्य-बोधक) सम्बन्ध तथा अध्ययन का प्रयोजन (फल)।

अधिकारी तु विधिवत्-अधीत-वेद-वेदाङ्गत्वेन-आपाततः अधिगत-अखिल-वेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्य-निषिद्ध-वर्जन-पुरःसरं नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त-उपासना-अनुष्ठानेन निर्गत-निखिल-कल्मषतया नितान्त-निर्मल-स्वान्तः साधनचतुष्टय-सम्पन्नः प्रमाता।।६।।

– ऐसे प्रमाता (सुयोग्य जिज्ञासु) को अधिकारी कहते हैं, जिसने इस जन्म में अथवा पिछले किसी जन्म में विधिपूर्वक वेद-वेदाङ्गों[१] का अध्ययन करके वेदों के मर्मार्थ की उपलब्धि कर ली हो; जो काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग करने के उपरान्त नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासना कर्मों का अनुष्ठान करके समस्त मालिन्य (पापों) से मुक्त होने के फलस्वरूप अतीव निर्मल अन्तःकरण वाला होकर 'साधन-चतुष्टय' से सम्पन्न हो।

काम्यानि – स्वर्गादि-इष्ट-साधनानि ज्योतिष्टोम् आदीनि।।७।।

– स्वर्ग आदि अभीष्ट की प्राप्ति के लिए साधन-रूप किये जानेवाले ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ *'काम्य-कर्म'* (कहे जाते) हैं।

निषिद्धानि – नरकादि-अनिष्ट-साधनानि ब्राह्मण-हनन-आदीनि।।८।।

---

१. वेदाङ्ग छह हैं – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष।

– नरक आदि अनिष्ट फलों के कारणभूत होनेवाले ब्राह्मण-हत्या आदि *'निषिद्ध-कर्म'* कहलाते हैं।

नित्यानि – अकरणे प्रत्यवाय-साधनानि संध्या-वन्दन-आदीनि।।९।।

– न किये जाने पर[२] अहित के कारण होनेवाले संध्या-वन्दन (पंच महायज्ञ) आदि *'नित्य-कर्म'* कहलाते हैं।

नैमित्तिकानि – पुत्रजन्म-आदि-अनुबन्धीनि जातेष्टि-आदीनि।।१०।।

– पुत्रजन्म आदि के उपरान्त किये जानेवाले जातकर्म आदि (संस्कार) *'नैमित्तिक-कर्म'* कहलाते हैं।

प्रायश्चित्तानि – पापक्षय-साधनानि चान्द्रायण-आदीनि।।११।।

– पापक्षय के साधनरूप किये जानेवाले चान्द्रायण आदि (अनुष्ठान) *'प्रायश्चित्त-कर्म'*[३] कहे जाते हैं।

उपासनानि – सगुण-ब्रह्म-विषय-मानस-व्यापार-रूपाणि शाण्डिल्यविद्या-आदीनि।।१२।।

– सगुण ब्रह्म विषयक शाण्डिल्य-विद्या[४] आदि के रूप में की जानेवाली मानसिक क्रियाएँ *'उपासना'* कही जाती हैं।

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनम् उपासनानां तु चित्त-एकाग्र्यम् 'तम् एतम् आत्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' (बृ.उ. ४/४/२२) इत्यादि-श्रुतेः 'तपसा कल्मषं हन्ति' (मनु. १२/१०४) इत्यादि-स्मृतेश्च।।१३।।

---

२. प्रत्यवाय = अनिष्ट या पाप; मीमांसकों के मतानुसार 'नित्यकर्म' आदि न करने से पाप होता है।

३. कृच्छ्र आदि चार तरह के 'प्रायश्चित्त' कर्मों के लिए देखिए मनुस्मृति (११/२१२-२२०)

४. विद्या = उपनिषदों में दहर, गायत्री आदि तीस से भी अधिक तरह की उपासनाओं के विवरण हैं। शाण्डिल्य-विद्या – देखिए छान्दो. (३/१४/१)

– इनमें से नित्य आदि कर्मों[5] का प्रमुख उद्देश्य चित्तशुद्धि है; परन्तु उपासनाएँ चित्त की एकाग्रता के लिए की जाती हैं, जैसा कि – "ब्राह्मण वेद-वाक्यों तथा यज्ञ के द्वारा इस आत्मा को जानने की कामना करते हैं" – आदि के द्वारा श्रुति में और "तप के द्वारा पाप नष्ट होते हैं" – आदि के द्वारा स्मृति में कहा गया है।

नित्य-नैमित्तिकयोः उपासनानां तु अवान्तर-फलं पितृलोक-सत्यलोक-प्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः' (बृ.उ. १/५/१६) इत्यादि-श्रुतेः।।१४।।

– पितृलोक, सत्यलोक की प्राप्ति के रूप में नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों और उपासना के अवान्तर या गौण फल भी होते हैं, जैसा कि "वैदिक कर्मों (यज्ञों) के अनुष्ठान से पितृलोक[6] तथा विद्या (उपासना) के द्वारा देवलोक की प्राप्ति होती है" – आदि के द्वारा श्रुति में बताया गया है।

साधनानि – नित्यानित्य-वस्तुविवेक-इहामुत्र-फलभोग-विराग-शमादि-षट्क-सम्पत्ति-मुमुक्षुत्वानि।।१५।।

– (१) नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक, (२) कर्मफलों से इह तथा परलोक में प्राप्त होनेवाले भोगों से विरक्ति, (३) मन:संयम आदि छह सम्पत्तियाँ और (४) मोक्ष की इच्छा – ये *(ज्ञानप्राप्ति के) 'साधन'* कहलाते हैं।

नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकः तावत् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततः अन्यत् अखिलम् अनित्यम् इति विवेचनम्।।१६।।

– इनमें से "एकमात्र ब्रह्म ही नित्य (सदा विद्यमान) वस्तु है, और उसके अतिरिक्त अन्य सभी कुछ अनित्य (क्षणिक) है" – ऐसा विचार करना *'नित्यानित्य-वस्तु-विवेक'* है।

---

५. नित्यादीनाम् = स्मृति में अन्यत्र कथित है – 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्' और नैष्कर्म्य सिद्धि (१.५२) में बताया गया है कि किस प्रकार ये परम ज्ञान की प्राप्ति कराते हैं।

६. पितृलोक = जैसा कि आगे १०४वें सूत्र में बताया जायगा, इस ब्रह्माण्ड में कुल चौदह लोक हैं। पितृलोक, भुवर्लोक के अन्तर्गत है।

ऐहिकानां स्रक्-चन्दन-वनिता-आदि-विषयभोगानां कर्मजन्यतया अनित्यत्ववत् आमुष्मिकाणाम् अपि अमृत-आदि-विषय-भोगानाम् अनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः – इह-अमुत्रार्थ-फलभोग-विरागः।।१७।।

– इस लोक के पुष्पमाला, चन्दन, नारी आदि (जागतिक) विषय-भोग और परलोक में भी प्राप्त होनेवाले देवत्व आदि (स्वर्गिक) विषयभोग – ये कर्म से उत्पन्न होने के कारण अनित्य (क्षणभंगुर) हैं, ऐसा जानकर इन दोनों के प्रति तीव्र विरक्ति को *'इहामुत्रार्थ-फलभोग-विराग'* कहते हैं।

शमादयः तु – शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा-आख्याः।।१८।।

– शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा – इन्हें *'शमादि'* (षट् सम्पत्ति) कहते हैं।

शमः तावत् – श्रवणादि-व्यतिरिक्त-विषयेभ्यो मनसो निग्रहः।।१९।।

– शास्त्र-वाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों से मन का निग्रह *'शम'* कहलाता है।

दमः – बाह्येन्द्रियाणां तद्-व्यतिरिक्त-विषयेभ्यो निवर्तनम्।।२०।।

– इन्हीं श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) का निग्रह *'दम'* कहलाता है।

निवर्तितानाम् एतेषां तद्-व्यतिरिक्त-विषयेभ्यः उपरमणम् उपरतिः अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः।।२१।।

– इस प्रकार संयमित (निगृहीत) बाह्य इन्द्रियों का उनके (श्रवण, मनन, निदिध्यासन के) अलावा अन्य विषयों से उपरमण (लौट आना) अथवा शास्त्रों में विहित कर्मों के अनुष्ठान का विधिपूर्वक परित्याग *'उपरति'* कहलाता है।

तितिक्षा – शीत-उष्ण-आदि-द्वन्द्व-सहिष्णुता।।२२।।

– शीत-उष्ण (सुख-दुःख, लाभ-हानि) आदि द्वन्द्वों को सहन करना (या सम-भाव से स्वीकार करना) *'तितिक्षा'* कहलाता है।

निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुण-विषये च समाधिः – समाधानम्।।२३।।

– (शमादि से) संयमित किये हुए मन का (शास्त्रों के) श्रवण, (मनन, निदिध्यासन) आदि तथा उसके आनुषंगिक (विनय, गुरुसेवा, स्वाध्याय आदि) विषयों में एकाग्रता (सतत नियोग) को *'समाधान'* कहते हैं।

गुरु-उपदिष्ट-वेदान्त-वाक्येषु विश्वासः – श्रद्धा ।।२४।।

– गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदान्त की उक्तियों में विश्वास को *'श्रद्धा'* कहते हैं।

मुमुक्षुत्वं – मोक्षेच्छा।।२५।।

– मोक्ष (या मुक्ति) की इच्छा को *'मुमुक्षा'* कहते हैं।

एवम्भूतः प्रमाता-अधिकारी 'शान्तो दान्त' (बृ.उ. ४/४/२३) **इत्यादि-श्रुतेः। उक्तं च – 'प्रशान्त-चित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीण-दोषाय यथोक्त-कारिणे। गुणान्विताय अनुगताय सर्वदा प्रदेयम् एतत् सकलं मुमुक्षवे।।'** (उपदेश-साहस्री, ३२४/१६/७२) **इति।।२६।।**

– ऐसे (चारों साधनों से युक्त) जिज्ञासु को *'अधिकारी'* कहते हैं, जैसे कि 'जिसकी मन तथा इन्द्रियाँ संयमित हैं।' आदि के द्वारा श्रुति में कहा है। साथ ही यह भी कहा गया है, 'जिसका चित्त शान्त है, जो इन्द्रियों पर विजय पा चुका है, जिसके (काम, क्रोध आदि) दोष क्षीण हो चुके हैं, जो सतत आज्ञाकारी हो – ऐसे मुमुक्षु को ही ये उपदेश प्रदान करे।'

विषयः – जीव-ब्रह्म-ऐक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयम्। तत्र एव वेदान्तानां तात्पर्यात्।।२७।।

– शुद्ध चैतन्य रूप जीव तथा ब्रह्म की एकता की अनुभूति ही *'प्रतिपाद्य-*

विषय'[७] है, क्योंकि यही वेदान्त-शास्त्रों का तात्पर्य (उद्देश्य) है।

सम्बन्धः तु – तत्-ऐक्य-प्रमेयस्य तत्-प्रतिपादक-उपनिषत्-प्रमाणस्य च बोध्य-बोधक-भावः।।२८।।

– उस (जीव-ब्रह्म के) एकत्व का बोध तथा उसका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद्-प्रमाण के बीच बोध्य-बोधक (साध्य-साधन) भाव को *'सम्बन्ध'* कहते हैं।

प्रयोजनं तु – तत्-ऐक्य-प्रमेयगत-अज्ञान-निवृत्तिः स्व-स्वरूप-आनन्द-अवाप्तिश्च 'तरति शोकम् आत्मवित्' (छा.उ. ७/१/३) इत्यादि-श्रुतेः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मु.उ. ३/२/९) इत्यादि-श्रुतेश्च।।२९।।

– उस (जीव-ब्रह्म के) एकत्व में स्थित अज्ञान का दूर होना तथा अपने स्वरूप के आनन्द की उपलब्धि को *'प्रयोजन'* (फल) कहते हैं। जैसा कि "आत्मज्ञानी दुःखों से पार हो जाता है।" और "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है।" आदि श्रुतियों में निर्दिष्ट है।

गुरु की आवश्यकता

अयम् अधिकारी जनन-मरणादि-संसार-अनल-सन्तप्तो दीप्त-शिरा जलराशिम् इव उपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुम् उपसृत्य तम् अनुसरति 'तद्-विज्ञानार्थं स गुरुम् एव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड.उ. १/२/१२) इत्यादि-श्रुतेः।।३०।।

– ऐसा (साधन-चतुष्टय-सम्पन्न) अधिकारी व्यक्ति जन्म-मृत्यु आदि के रूप में संसार-अग्नि से सन्तप्त होकर सिर (के केशों) में आग लग जाने पर जलाशय की ओर दौड़नेवाले के समान हाथ में उपहार लिए वेदवित् तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर उनकी शुश्रूषा (सेवा तथा आदेश पालन) करे। जैसा कि "उसे (आत्मतत्त्व को) जानने हेतु हाथ में समिधा (यज्ञ के लिए काष्ठ) लिए हुए श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।" आदि के द्वारा

७. प्रमेय = ऐसा विषय जो यथार्थ ज्ञान के योग्य हो।

श्रुतियों में कहा गया है।

स गुरुः परमकृपया अध्यारोप-अपवाद-न्यायेन एनम् उपदिशति – 'तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक्, प्रशान्त-चित्ताय शम-अन्विताय। येन अक्षरं पुरुषं वेद सत्यं, प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।।' (मुण्ड.उ. १/२/१३) इत्यादि-श्रुतेः।।३१।।

– वे (वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ) गुरु अत्यन्त कृपापूर्वक अध्यारोप[८] (क्षेपणों) तथा अपवाद (निराकरण) की युक्तियों के द्वारा उसे उपदेश देते हैं। जैसा कि श्रुति में कहा गया है, "अपने समीप आये हुए, भलीभाँति शान्तचित्त, शमादि साधनयुक्त उस (शिष्य) के लिए, उन्होंने (गुरु) उस ब्रह्मविद्या को यथार्थ रूप से कहा, जिसके द्वारा अक्षर, सत्य पुरुष (ब्रह्म) को जाना जा सकता है।"

अध्यारोप

असर्पभूतायां रज्जौ सर्प-आरोपवत् वस्तुनि अवस्तु-आरोपः – अध्यारोपः।।३२।।

– ऐसी रस्सी, जिसका स्वरूप (भूत, वर्तमान तथा भविष्य – तीनों कालों में) कभी सर्प नहीं है, उसमें सर्प के आरोप के समान ही वस्तु (ब्रह्म) में अवस्तु (संसार, माया, नानात्व) के आरोप को *'अध्यारोप'* कहते हैं।

वस्तु – सच्चिदानन्दम् अद्वयं ब्रह्म; अज्ञान-आदि-सकलं जडसमूहः अवस्तु।।३३।।

– अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्त्व ही वस्तु है और अज्ञान आदि (और उससे उत्पन्न) समस्त जड़ पदार्थों का समूह (जगत्) अवस्तु है।

अज्ञानं तु – सद्-असद्भ्याम् अनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्-किञ्चित्-इति वदन्ति अहम् अज्ञ इत्यादि-अनुभवात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढाम्' (श्वेता. उ. १/३) इत्यादि-श्रुतेश्च।।३४।।

---

८. अध्यारोप = भ्रम; अपवाद = तिरस्कार, उसे मिथ्या सिद्ध करना; तत्त्वतः = यथार्थ रूप से

– जिसे न सत् कहा जा सकता है और न असत्; जो सत्त्व, रजस् और तमस् – इन तीन गुणों से मिलकर बना है, ज्ञान का प्रतिबन्धक (ज्ञान से समूल नष्ट होनेवाला) है और भावरूप जो कुछ है, उसे अज्ञान कहते हैं। "मैं अज्ञानी हूँ" – इस अनुभव के कारण और "प्रकाश-रूप आत्मा की शक्ति अपने ही (सत्त्व आदि) गुणों में छिपी रहती है" आदि श्रुतियों के द्वारा इसका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

इदम् अज्ञानं समष्टि-व्यष्टि-अभिप्रायेण एकम् अनेकम् इति च व्यवह्रियते।।३५।।

– इस अज्ञान को समष्टि के रूप में 'एक' तथा व्यष्टि के रूप में 'अनेक' कहते हैं।

तथाहि यथा वृक्षाणां समष्टि-अभिप्रायेण वनम् इति एकत्व-व्यपदेशो यथा वा जलानां समष्टि-अभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगत-अज्ञानानां समष्टि-अभिप्रायेण तद्-एकत्व-व्यपदेशः 'अजाम् एकाम्' (श्वेता.उ. ४/५) इत्यादि-श्रुतेः।।३६।।

– जैसे वृक्षों के समष्टि को 'एक वन' और जल की समष्टि को 'एक जलाशय' कहते हैं; वैसे ही जीवों में नाना प्रकार से प्रतीत होनेवाले अज्ञान की समष्टि को श्रुतियों में 'एक अजन्मा' आदि के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

इयं समष्टिः उत्कृष्ट-उपाधितया विशुद्ध-सत्त्व-प्रधाना।।३७।।

– उत्कृष्ट उपाधि से युक्त होने के कारण यह समष्टि (अज्ञान) विशुद्ध-सत्त्व-प्रधान है।

एतद्-उपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्व-नियन्तृत्व-आदिगुणकम् अव्यक्तम् अन्तर्यामी जगत्कारणम् ईश्वर इति च व्यपदिश्यते सकल-अज्ञान-अवभासकत्वात्। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्डक.उ. १/१/९) इत्यादि-श्रुतेः।।३८।।

– इस प्रकार की उपाधि से युक्त चैतन्य सबका ज्ञाता, सबका स्वामी, सबका नियन्ता आदि गुणों से युक्त है और समस्त अज्ञान को प्रकाशित करने के कारण अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत्कारण ईश्वर कहा जाता है। श्रुति में उसे "जो सर्वज्ञ तथा सर्ववित् हैं।" आदि कहा गया है।

ईश्वरस्य इयं समष्टिः अखिल-कारणत्वात् कारण-शरीरम् आनन्द-प्रचुरत्वात् कोशवद्-आच्छादकत्वात् च आनन्दमय-कोशः सर्व-उपरमत्वात् सुषुप्तिः अतएव स्थूल-सूक्ष्म-प्रपञ्च-लयस्थानम् इति च उच्यते।।३९।।

– ईश्वर की उपाधि-रूप इस 'अज्ञान-समष्टि' को, सब (समस्त प्रपंच) का कारण होने से 'कारण-शरीर'; आनन्द के प्राचुर्य तथा कोश के समान आच्छादक होने से 'आनन्दमय कोश' और इसी में सबका लय हो जाने से इसको 'सुषुप्ति' भी कहते हैं, अतः इसे 'स्थूल-सूक्ष्म जगत्-प्रपंच का लय-स्थान भी कहा जाता है।

यथा वनस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण वृक्षा इति अनेकत्व-व्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण जलानि इति तथा अज्ञानस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण तद्-अनेकत्व-व्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋग्वेद, ६/४७/१८) इत्यादि-श्रुतेः।।४०।।

– जैसे 'वन' को उसके व्यष्टि (या इकाइयों) की दृष्टि से 'वृक्ष-समूह' और जैसे 'जलाशय' के द्वारा व्यष्टि की दृष्टि से 'जल की बूँदों' के रूप में अनेकत्व का बोध होता है, उसी प्रकार अज्ञान के व्यष्टि-रूप में अनेकत्व का बोध होता है, जैसा कि "इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूप धारण करते हैं" – आदि श्रुतियों में कहा गया है।

अत्र व्यस्त-समस्त-व्यापित्वेन व्यष्टि-समष्टिता-व्यपदेशः।।४१।।

– यहाँ अज्ञान के प्रत्येक (जड़-चेतन) पदार्थ में व्याप्त होने के कारण 'व्यष्टि' (अज्ञान) और समस्त (जड़-चेतन पदार्थों) में व्याप्त होने के कारण 'समष्टि' (अज्ञान) कहा जाता है।

इयं व्यष्टिः निकृष्ट-उपाधितया मलिन-सत्त्व-प्रधाना।।४२।।

– यह व्यष्टि (अज्ञान) निकृष्ट उपाधि के कारण मलिन (रजो-तमो-गुणों से युक्त) सत्त्वप्रधान है।

एतद्-उपहितं चैतन्यम् अल्पज्ञत्व-अनीश्वरत्व-आदि-गुणकं प्राज्ञ इति उच्यते एक-अज्ञान-अवभासकत्वात्।।४३।।

– एक अज्ञान का अवभासक होने के कारण, अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदि गुणोंवाले इस उपाधियुक्त (ससीम) चैतन्य को *'प्राज्ञ'* कहा जाता है।

अस्य प्राज्ञत्वम् अस्पष्ट-उपाधितया अनति-प्रकाशकत्वात्।।४४।।

– अस्पष्ट उपाधियुक्त तथा अल्प प्रकाशक होने के कारण इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं।

अस्य अपि इदम् अहङ्कार-आदि-कारणत्वात्-कारण-शरीरम् आनन्द-प्रचुरत्वात् कोशवद्-आच्छादकत्वात् च आनन्दमय-कोशः सर्व-उपरमत्वात् सुषुप्तिः अतएव स्थूल-सूक्ष्म-शरीर-प्रपञ्च-लय-स्थानम् इति च उच्यते।।४५।।

– इस (व्यष्टिरूपी प्राज्ञ) के भी व्यष्टि अज्ञान को अहंकार आदि का कारण होनेसे 'कारण-शरीर', उसमें आनन्द का प्राचुर्य एवं कोश के समान आच्छादक होने से 'आनन्दमय-कोश' तथा समस्त इन्द्रियों आदि का उसमें उपरम (लय) हो जाने से 'सुषुप्ति' और इसी कारण इसे 'स्थूल-सूक्ष्म देह-प्रपंच का लय-स्थान' भी कहते हैं।

तदानीम् एतौ ईश्वर-प्राज्ञौ चैतन्य-प्रदीप्ताभिः अति-सूक्ष्माभिः अज्ञानवृत्तिभिः आनन्दम् अनुभवतः 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' (माण्डु.उ. ५) इति श्रुतेः, सुखम् अहम् अस्वाप्सम् न किञ्चित् अवेदिपम् इति उत्थितस्य परामर्श-उपपत्तेः च।।४६।।

– इस (सुषुप्ति) अवस्था में 'ईश्वर' (समष्टि उपाधिवाला चैतन्य) तथा 'प्राज्ञ' (व्यष्टि उपाधिवाला चैतन्य) – दोनों ही चैतन्य से प्रकाशित होने वाली

अज्ञान की एक अति सूक्ष्म वृत्ति के द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं, जैसा कि श्रुति में कहा गया है, "प्राज्ञ चैतन्य की सहायता से[१] आनन्द का भोक्ता है।" और सोकर उठे हुए व्यक्ति की – "मैं सुखपूर्वक सो रहा था। मैं कुछ भी नहीं जानता था" – इस अनुभूति से भी यही प्रमाणित होता है।

अनयोः समष्टि-व्यष्ट्योः वनवृक्षयोः इव जलाशय-जलयोः इव वा अभेदः।।४७।।

– वन तथा वृक्ष अथवा जलाशय तथा जल के समान ही ये समष्टि (ईश्वर) तथा व्यष्टि (प्राज्ञ) परस्पर अभिन्न हैं।

एतद्-उपहितयोः ईश्वर-प्राज्ञयोः अपि वन-वृक्ष-अवच्छिन्न-आकाशयोः इव जलाशय-जलगत-प्रतिबिम्ब-आकाशयोः इव वा अभेदः 'एष सर्वेश्वर' (माण्डु.उ. ६) इत्यादि-श्रुतेः।।४८।।

– वन तथा वृक्ष से सीमित आकाश और जलाशय एवं जल में प्रतिबिम्बित आकाश के समान ही (समष्टि तथा व्यष्टि अज्ञान) उपाधि से युक्त ईश्वर तथा प्राज्ञ भी अभिन्न हैं, जैसा कि "यही सर्वेश्वर है" – आदि श्रुतियों में कहा गया है।

तुरीय का स्वरूप

वनवृक्ष-तद्-अवच्छिन्न-आकाशयोः जलाशय-जल-तद्गत-प्रतिबिम्ब-आकाशयोः वा आधारभूत-अनुपहित-आकाशवद्-अनयोः अज्ञान-तद्-उपहित-चैतन्ययोः आधारभूतं यद्-अनुपहितं चैतन्यं तत् तुरीयम् इति उच्यते '(शान्तं) शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (माण्डु.उ. ७) इत्यादि-श्रुतेः।।४९।।

– वन-वृक्ष तथा उनके द्वारा आच्छादित आकाश अथवा जलाशय-जल तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाश के आधारभूत उपाधिरहित (असीम) आकाश के समान ही समष्टि (ईश्वर) तथा व्यष्टि (प्राज्ञ) अज्ञान और अज्ञान-

---

१. चेतोमुखः – चैतन्य को द्वार बनाकर स्वप्न आदि का बोध करनेवाला।

रूप उपाधियों से युक्त चैतन्यों का आधारभूत जो निरुपाधिक चैतन्य है, उसे तुरीय कहते हैं, जैसा कि "जो शान्त, मंगलमय तथा अद्वय है, उसे चतुर्थ कहते हैं।" आदि श्रुतियों में कहा गया है।

इदम् एव तुरीयं शुद्धचैतन्यम् अज्ञानादि-तद्-उपहित-चैतन्याभ्याम् तप्त-अयःपिण्डवद्-अविविक्तं सन् महावाक्यस्य वाच्यं, विविक्तं सन् लक्ष्यम् इति च उच्यते।।५०।।

– यह तुरीय या शुद्ध चैतन्य ही तप्त लौह-पिण्ड के समान अज्ञान आदि तथा उन उपाधियों से युक्त चैतन्य से पृथक् न किया हुआ होने पर (तत्त्वमसि) महावाक्य का वाच्यार्थ है और विविक्त अर्थात् पृथक् किया हुआ होने पर उसका लक्ष्यार्थ है।

□□□

अध्याय २

अज्ञान का विस्तार

अस्य अज्ञानस्य आवरण-विक्षेप-नामकम् अस्ति शक्ति-द्वयम्।।५१।।

– इस अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ हैं।

आवरण-शक्तिः तावत् अल्पो अपि मेघः अनेक-योजन-आयतम् आदित्य-मण्डलम् अवलोकयितृ-नयन-पथ-पिधायकतया यथा आच्छादयति इव तथा अज्ञानं परिच्छिन्नम् अपि आत्मानम् अपरिच्छिन्नम् असंसारिणम् अवलोकयितृ-बुद्धि-पिधायकतया आच्छादयति इव तादृशं सामर्थ्यम्। तद्-उक्तं – 'घनच्छन्न-दृष्टिः घनच्छन्नम् अर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः। तथा वद्धवत् भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धि-स्वरूपो-अहम्-आत्मा।।' (हस्तामलकम्, १०) इति।।५२।।

– जैसे वादल का एक छोटा-सा टुकड़ा अनेक योजन (करोड़ों मील) परिधि (विस्तार) वाले सूर्यमण्डल की ओर देखनेवालों के दृष्टिपथ को अवरुद्ध कर मानो सूर्य को ढ़क देता है, वैसे ही 'अज्ञान' की आवरण-शक्ति में ऐसी सामर्थ्य है कि वह सीमित (परिच्छिन्न) होकर भी द्रष्टा की बुद्धि को अवरुद्ध (बाधित) करके असीम, अजन्मा, आत्मा को मानो ढँक देता है। कहा भी गया है, "जैसे एक अतीव मूढ़ व्यक्ति की दृष्टि मेघ से आच्छन्न हो जाने पर, उसे सूर्य ही आच्छादित तथा प्रभाहीन प्रतीत होता है; वैसे ही मूढ़दृष्टि (अज्ञानी) व्यक्ति को, जो नित्यबोध-स्वरूप तत्त्व बद्ध के समान प्रतीत होता है – वही आत्मा मैं हूँ।"

अनया आवृतस्य आत्मनः कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुखित्व-दुःखित्व-आदि-संसार-सम्भावना अपि भवति यथा स्व-अज्ञानेन आवृतायां रज्ज्वां सर्पत्व-सम्भावना।।५३।।

– जिस प्रकार रस्सी में अपने अज्ञान से आवृत हो जाने पर सर्पत्व की प्रतीति होती है, उसी प्रकार इस 'आवरण' शक्ति से आवृत होने पर आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुखित्व आदि से युक्त संसार की सम्भावना होती है।

विक्षेप-शक्तिः तु यथा रज्जु-अज्ञानं स्व-आवृत-रज्जौ स्व-शक्त्या सर्पादिकम् उद्भावयति एवम् अज्ञानम् अपि स्व-आवृत-आत्मनि स्वशक्त्या-आकाशादि-प्रपञ्चम् उद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तं – 'विक्षेपशक्तिः लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्' (वाक्यसुधा, १३) **इति।।५४।।**

– जैसे रस्सी के बारे में अज्ञान अपनी आवरण-शक्ति से रस्सी को आवृत्त करके उसमें सर्प आदि का बोध उत्पन्न करता है, वैसे ही अज्ञान भी अपनी आवरण-शक्ति से आत्मा को आवृत करके (उसमें) आकाश आदि (पंचभूतमय) प्रपंच को दिखाता है। (अज्ञान के) इस सामर्थ्य को 'विक्षेप शक्ति' कहते हैं। कहा भी गया है – "विक्षेप-शक्ति लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तक जगत् का सृजन करती है।"

शक्ति-द्वयवद्-अज्ञान-उपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्व-उपाधि-प्रधानतया उपादानं च भवति।।५५।।

– (आवरण तथा विक्षेप) – इन दोनों प्रकार की शक्तिवाले अज्ञान रूप उपाधि से युक्त चैतन्य अपनी प्रधानता से (इस ब्रह्माण्ड का) निमित्त कारण है और उपाधि की प्रधानता से उपादान कारण है।[१०]

यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्व-शरीर-प्रधानतया उपादानं च भवति।।५६।।

---

१०. जैसे घट के लिए कुम्हार निमित्त कारण है और मिट्टी उपादान कारण।

– जैसे मकड़ी अपनी प्रधानता से जाले का निमित्त कारण है और अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण भी है।

तमःप्रधान-विक्षेपशक्तिमद्-अज्ञान-उपहित-चैतन्याद् आकाशः आकाशाद्-वायुः वायोः अग्निः अग्नेः आपः अद्भ्यः पृथिवी च उत्पद्यते 'एतस्माद्-आत्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै.उ. २/१/१) इत्यादि-श्रुतेः।।५७।।

– तमस् प्रधान विक्षेपशक्ति वाले अज्ञान उपाधि के साथ युक्त चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। जैसा कि "इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" – आदि के द्वारा श्रुति में कहा गया है।

तमोगुण की प्रधानता

तेषु जाड्य-आधिक्य-दर्शनात् तमःप्राधान्यं तत्-कारणस्य। तदानीं सत्त्व-रजः-तमांसि कारण-गुण-प्रक्रमेण तेषु आकाश-आदिषु उत्पद्यन्ते।। ५८।।

– इन (आकाश आदि पंचभूतों) में जड़ता का आधिक्य परिलक्षित होने से, उनके 'कारण' में तमस् की प्रधानता है। उस (सृष्टि के) समय 'कारण' के गुण संक्रमित होने से आकाश आदि में सत्त्व-रजस्-तमस् उत्पन्न होते हैं।

एतानि एव सूक्ष्म-भूतानि तन्मात्राणि अपञ्चीकृतानि च उच्यन्ते।।५९।।

– इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्राएँ तथा अपंचीकृत भूत कहते हैं।

एतेभ्यः सूक्ष्म-शरीराणि स्थूल-भूतानि च उत्पद्यन्ते।।६०।।

– इन्हीं (आकाश आदि सूक्ष्म भूतों) से सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूत (पदार्थ) उत्पन्न होते हैं।

सूक्ष्म शरीर के अवयव

सूक्ष्म-शरीराणि सप्तदश-अवयवानि लिङ्ग-शरीराणि।।६१।।

– सत्रह अवयवों के लिंग शरीर को ही 'सूक्ष्म-शरीर' कहते हैं।

अवयवाः तु ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकं बुद्धि-मनसी कर्मेन्द्रिय-पञ्चकं वायु-पञ्चकं च इति।।६२।।

– पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि-मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण – (सूक्ष्म शरीर के) सत्रह अवयव हैं।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्र-त्वक्-चक्षुर्-जिह्वा-घ्राण-आख्यानि।।६३।।

– कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका – ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

एतानि आकाश-आदीनां सात्त्विक-अंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते।।६४।।

– ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) आकाश आदि भूतों के अलग अलग सात्त्विक अंश से क्रमशः अलग अलग उत्पन्न होती हैं।

बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः।।६५।।

– अन्तःकरण की निश्चय करनेवाली वृत्ति को 'बुद्धि' कहते हैं।

मनो नाम सङ्कल्प-विकल्पात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः।।६६।।

– अन्तःकरण की संकल्प-विकल्प करनेवाली वृत्ति को 'मन' कहते हैं।

अनयोः एव चित्त-अहङ्कारयोः अन्तर्भावः।।६७।।

– इन (बुद्धि-मन) में (क्रमशः) चित्त एवं अहंकार का समावेश है।

अनुसन्धानात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः चित्तम्।।६८।।

– अन्तःकरण की खोज या स्मरण करनेवाली वृत्ति को 'चित्त' कहते हैं।

अभिमानात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः अहङ्कारः।।६९।।

– अन्तःकरण की ('मैं' रूप) अभिमान करनेवाली वृत्ति को 'अहंकार'

कहते हैं।

एते पुनः आकाश-आदिगत सात्त्विक-अंशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।।७०।।

– ये (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) आकाश आदि के मिश्रित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं।

एतेषां प्रकाशात्मकत्वात् सात्त्विक-अंशकार्यत्वम्।।७१।।

– प्रकाश-स्वरूप होने के कारण ये (मन, बुद्धि आदि) सात्त्विक अंशों के 'कार्य' हैं।

इयं बुद्धिः ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमय-कोशो भवति।।७२।।

– ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर यह बुद्धि 'विज्ञानमय-कोश' हो जाती है।

अयं कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुखित्व-दुःखित्व-आदि अभिमानत्वेन इहलोक-परलोक-गामी व्यवहारिको जीव इति उच्यते।।७३।।

– यह (विज्ञानमय कोश) कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुखित्व आदि अभिमान से युक्त होने के कारण इहलोक तथा परलोक में आवागमन करनेवाला 'व्यावहारिक जीव'[११] कहलाता है।

मनः तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन् मनोमय-कोशो भवति।।७४।।

– ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर मन 'मनोमय-कोश' हो जाता है।

कर्मेन्द्रियाणि वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-आख्यानि।।७५।।

– वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ – ये 'कर्मेन्द्रियाँ' हैं।

एतानि पुनः आकाशादीनां रजो-अंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते।।७६।।

– ये (कर्मेन्द्रियाँ) भी आकाश आदि (भूतों) के रजः अंश से क्रमशः

११. व्यावहारिक = अवास्तविक या मिथ्या जीव

(आकाश से वाक्, वायु से हाथ, अग्नि से पैर, जल से गुदा और पृथ्वी से उपस्थ – इस प्रकार) अलग अलग उत्पन्न होती हैं।।

वायवः प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानाः।।७७।।

– प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान – ये (पाँच) *'वायु'* कहलाते हैं।

प्राणो नाम प्राक्-गमनवान् नासाग्र-स्थानवर्ती।।७८।।

– ऊपर की ओर चलनेवाले और नासिका के अग्रभाग में निवास करनेवाले वायु को *'प्राण'* कहते हैं।

अपानो नाम-अवाक्-गमनवान् पायु-आदि-स्थानवर्ती।।७९।।

– नीचे की ओर चलनेवाले और गुदा आदि स्थानों में निवास करनेवाले वायु को *'अपान'* कहते हैं।

व्यानो नाम विष्वक्-गमनवान् अखिल-शरीरवर्ती।।८०।।

– सभी ओर चलनेवाले और पूरे शरीर में व्याप्त रहनेवाले वायु को *'व्यान'* कहते हैं।

उदानो नाम कण्ठ-स्थानीय ऊर्ध्व-गमनवान् उत्क्रमण वायुः।।८१।।

– कण्ठ में निवास करनेवाले और (शरीर से निकलकर) ऊपर की ओर चलनेवाले वायु को *'उदान'* कहते हैं।

समानो नाम शरीर-मध्यगत-अशित-पीत-अन्न-आदि-समीरणकरः।।८२।।

– शरीर के मध्यभाग (नाभि) में निवास करनेवाले और खाये-पीये हुए पदार्थों का समीकरण (पाचन) करनेवाले वायु को *'समान'* कहते हैं।

समीकरणं तु परिपाक-करणं रस-रुधिर-शुक्र-पुरीष -आदि-करणम् इति यावत्।।८३।।

– (भोजन का) परिपाचन और उसका रस, रुधिर, शुक्र, पुरीष (मल-

मूत्रादि) में परिणत करना 'समीकरण' (या विपाकीकरण) कहलाता है।

केचित् तु नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जय-आख्याः पञ्च-अन्ये वायवः सन्ति इति वदन्ति।।८४।।

– अन्य (सांख्य मतावलम्बियों) के कथनानुसार नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय नामक और भी पाँच वायु हैं।

तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः।।८५।।

– इनमें *'नाग'* उद्गीकरण अर्थात् डकार, उल्टी आदि उत्पन्न करता है, *'कूर्म'* से आँखों की पलकें खुलती (और बन्द होती) हैं, *'कृकल'* भूख पैदा करता है, *'देवदत्त'* जम्हाई लाता है और *'धनंजय'* पोषणकर्ता है।

एतेषां प्राणादिषु अन्तर्भावात् प्राणादयः पञ्च एव इति केचित्।।८६।।

– अन्य (वेदान्तवादी) कहते हैं कि प्राण आदि में ही इनका भी समावेश होने से वायुओं की संख्या केवल पाँच ही है।

एतत् प्राणादि-पञ्चकम् आकाशादिगत-रजो-अंशेभ्यः मिलितेभ्यः उत्पद्यते।।८७।।

– ये प्राण आदि पाँच वायु सम्मिश्रित आकाश आदि (पंचभूतों) के रजस् अंशों से उत्पन्न होते हैं।

इति प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सन् प्राणमय-कोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजो-अंश-कार्यत्वम्।।८८।।

– ये प्राण आदि पंच वायु (पाँच) कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर 'प्राणमय-कोश' कहलाते हैं। अपनी क्रियाशीलता के कारण ये रजस् अंश के कार्य (परिणाम) कहलाते हैं।

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वात् एवम् एतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत् कोशत्रयं मिलितं

सन् सूक्ष्म-शरीरम् इति उच्यते।।८९।।

– इन कोशों में 'विज्ञानमय-कोश' ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण *'कर्ता'* रूप हैं' 'मनोमय-कोश' इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण *'करण'* (यंत्र) रूप है; 'प्राणमय-कोश' क्रियाशक्ति से युक्त *'कार्य'* रूप है। कहते हैं कि यह वर्गीकरण योग्यता (गुण, क्रिया) के अनुसार किया गया है। इन तीन कोशों को एक साथ मिलाकर *'सूक्ष्म-शरीर'* कहते हैं।

अत्र अपि अखिल-सूक्ष्म-शरीरम् एकबुद्धि-विषयतया वनवत्-जलाशयवत्-वा समष्टिः अनेक-बुद्धि-विषयतया वृक्षवत्-जलवत्-वा व्यष्टिः अपि भवति।।९०।।

– यहाँ भी समस्त सूक्ष्म शरीरों का योग एकत्व भाव से कहें, तो वन या जलाशय के समान ही 'समष्टि' है और अनेकत्व भाव से कहें, तो वृक्ष या जल के समान 'व्यष्टि' हो जाता है।

एतत् समष्टि-उपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राणः च इति उच्यते सर्वत्र-अनुस्यूतत्वात् ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्तिमत् उपहितत्वात् च।।९१।।

– इस (सूक्ष्म शरीरों की) समष्टि रूपी उपाधि से आवृत चैतन्य के सर्वत्र ओतप्रोत और ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्ति की उपाधियों से युक्त होने के कारण इसे *'सूत्रात्मा'*, *'हिरण्यगर्भ'* तथा *'प्राण'* कहते हैं।

अस्य एषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्च-अपेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्म-शरीरं विज्ञानमय-आदि-कोशत्रयं जाग्रद्-वासनामय-त्वात् स्वप्नः अतएवं स्थूल-प्रपञ्च-लयस्थानम् इति च उच्यते।।९२।।

– स्थूल जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण इस (हिरण्यगर्भ) की समष्टि उपाधि को *'सूक्ष्म-शरीर'* तथा विज्ञानमय आदि *'कोशत्रय'* कहा जाता है। जाग्रत अवस्था के संस्कार-रूप होने के कारण इसे *'स्वप्न'* भी कहते हैं और इसी कारण यह 'स्थूल जगत् का लय-स्थान' भी कहा जाता है।

एतत् व्यष्टि-उपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमय-अन्तःकरण-उपहितत्वात्।।९३।।

– तेजोमय अन्तःकरण उपाधि से युक्त होने के कारण, इस (सूक्ष्म-शरीर) के व्यष्टि उपाधियुक्त चैतन्य को *'तैजस'* कहते हैं।

अस्य अपि इयं व्यष्टिः स्थूलशरीर-अपेक्षया सूक्ष्मत्वात् इति हेतोः एव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमय-आदि-कोशत्रयं जाग्रद्-वासनामयत्वात् स्वप्नः अतएव स्थूल-प्रपञ्च-लयस्थानम् इति च उच्यते।।९४।।

– इस तैजस की व्यष्टि उपाधि को भी, स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण *'सूक्ष्म शरीर'*, विज्ञानमय आदि *'कोशत्रय'*, जाग्रत अवस्था की वृत्तियों (संस्कारों) से युक्त होने के कारण *'स्वप्न'* और इस कारण 'स्थूल-शरीर का लय-स्थान' भी कहते हैं।

एतौ सूत्रात्म-तैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयान् अनुभवतः 'प्रविविक्तभुक्-तैजसः' (माण्डू.उ. ३) इत्यादि-श्रुतेः।।९५।।

– सूत्रात्मा (समष्टि) और तैजस (व्यष्टि) – दोनों तब (स्वप्न-अवस्था में) मन की (सूक्ष्म) वृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं, जैसा कि "तैजस सूक्ष्म विषयों का भोक्ता[१२] है" – आदि के द्वारा श्रुति में कहा गया है।

अत्र अपि समष्टि-व्यष्ट्योः तद्-उपहित-सूत्रात्म-तैजसयोः वनवृक्षवत् तद्-अवच्छिन्न-आकाशवत् च जलाशय-जलवत् तद्गत-प्रतिबिम्ब-आकाशवत् च अभेदः।।९६।।

– यहाँ भी समष्टि तथा व्यष्टि रूप वन-वृक्ष तथा उनसे सीमित आकाश के समान और जलाशय, जल तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाश के समान ही, समष्टि तथा व्यष्टि रूप उपाधियां तथा उनसे आवृत सूत्रात्मा तथा तैजस अभिन्न हैं।

---

१२. प्रविविक्तभुक् = स्वप्नावस्था में सूक्ष्म अर्थात् प्रातिभासिक वस्तुओं का भोग करनेवाला।

एवं सूक्ष्मशरीर-उत्पत्तिः।।९७।।

– इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है।

स्थूल शरीर का स्वरूप

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि।।९८।।

– परन्तु स्थूल शरीर पंचीकृत (पंच भूतों का सम्मिश्रण) है।

पञ्चीकरणं तु आकाशादि-पञ्चसु एकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्व-स्व-द्वितीय-अर्धभाग-परित्यागेन भागान्तरेषु योजनम्।।९९।।

– पंचीकरण इस प्रकार होता है – आकाश आदि पंचभूतों (पाँच तत्त्वों) में से प्रत्येक के दो दो समान विभाग करके, इस प्रकार प्राप्त दस भागों में से, प्रथम पाँच अर्ध-भागों के प्रत्येक का चार चार समान भाग करते हैं। फिर उनमें प्रत्येक चतुर्थांग को स्वजातीय अर्धांश छोड़कर अन्य चारों अर्धांशों में जोड़े।

उदाहरण
आकाश-तत्त्व

आकाश ५०%	वायु १२.५%
	अग्नि १२.५%
	आप १२.५%
	पृथ्वी १२.५%

तदुक्तं – 'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्व-स्व-इतर-द्वितीयांशैः योजनात् पञ्च पञ्च ते।।" (पंचदशी, १.२७) **इति।।१००।।**

– जैसा कि कहा गया है – "प्रत्येक भूत के दो समान विभाग करके, प्रत्येक के प्रथम भाग को चार समान भागों में बाँटते हैं। फिर प्रत्येक तत्त्व के दूसरे अर्धांश में बाकी चारों के एक एक चतुर्थांश का योग करते हैं। इस प्रकार

पाँचों तत्त्वों में से प्रत्येक में पाँचों प्राप्त हो जाते हैं।"

अस्य अप्रामाण्यं न आशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्य अपि उपलक्षणत्वात्।।१०१।।

– इसकी प्रामाणिकता के विषय में शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रुति में वर्णित[१३] त्रिवृत्करण (तीन भूतों की सृष्टि का कथन) द्वारा पंचीकरण भी उपलक्षित[१४] है।

पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (ब्र.सू. २.४.२२) इति न्यायेन आकाशादि-व्यपदेशः सम्भवति।।१०२।।

– पाँचों तत्त्वों में सभी पाँचों का अन्तर्भाव (उपस्थिति) होने से इनमें समानता है, तथापि – "परन्तु उनमें से किसी एक के प्राबल्य (वैशिष्ट्य) के कारण उन्हें उस उस नाम से कहा जाता है" – इस न्याय के अनुसार इनमें आकाश आदि पृथक् नामकरण उचित हैं।

तदानीम् आकाशे शब्दो अभिव्यज्यते वायौ शब्द-स्पर्शौ अग्नौ शब्द-स्पर्श-रूपाणि अप्सु शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः पृथिव्यां शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः च।।१०३।।

– तब (पंचीकरण के बाद) आकाश में शब्द; वायु में शब्द तथा स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध अभिव्यक्त होते हैं।

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूः भुवः स्वः जनः तपः सत्यम् इति एतत् नामकानाम् उपरि-उपरि-विद्यमानानाम् अतल-वितल-सुतल-रसातल-तलातल-महातल-पाताल-नामकानाम् अधो-अधो

---

१३. छान्दोग्य उपनिषद् ६.३.२.३

१४. उपलक्षण – स्वार्थबोधकत्वे सति अन्यस्यार्थापि बोधकं उपलक्षणम्।। – अपने अर्थ को बताते हुए उसी श्रेणी के अन्तर्गत अन्यार्थ को भी बतानेवाले को उपलक्षण कहते हैं। यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' –'कौओं से दही की रक्षा करो' – इस वाक्य में उपलक्षण से अन्य पक्षियों से भी उसकी रक्षा करने की बात कही गयी है।

विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्गत-चतुर्विध-स्थूल-शरीराणां तद्-उचितानाम् अन्न-पान-आदीनां च उत्पत्तिः भवति।।१०४।।

– इन पंचीकृत भूतों से, एक के ऊपर एक – भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, तथा सत्य और एक के नीचे एक – अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल (चौदह लोकों)[१५] से युक्त ब्रह्माण्ड तथा उनमें निवास करनेवाले चार प्रकार के स्थूल शरीर और उनके उपयुक्त भोज्य-पेय आदि की उत्पत्ति होती है।

चतुर्विध-शरीराणि तु जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज-आख्यानि।।१०५।।

– जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज – ये चार प्रकार के *'स्थूल शरीर'* हैं।

जरायुजानि – जरायुभ्यो जातानि मनुष्य-पशु-आदीनि।।१०६।।

– जरायु (गर्भ) से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, पशु आदि को *'जरायुज'* कहते हैं।

अण्डजानि – अण्डेभ्यो जातानि पक्षि-पन्नग-आदीनि।।१०७।।

– अण्डों से उत्पन्न होनेवाले पक्षी, सर्प आदि को *'अण्डज'* कहते हैं।

स्वेदजानि – स्वेदेभ्यो जातानि यूक-मशक-आदीनि।।१०८।।

– पसीने (नमी) से पैदा होनेवाले जूँ, मच्छर आदि को *'स्वेदज'* कहते हैं।

उद्भिज्जानि – भूमिम् उद्भिद्य जातानि लता-वृक्ष-आदीनि।।१०९।।

– भूमि को भेदकर उत्पन्न होनेवाले लता, वृक्ष आदि को *'उद्भिज्ज'* कहते हैं।

अत्रापि चतुर्विध-सकल-स्थूलशरीरम् एक-अनेक-बुद्धि-विषयतया वनवत्-जलाशयवत्-वा समष्टिः वृक्षवत्-जलवत्-वा व्यष्टिः अपि भवति।।११०।।

१५. इन चौदह लोकों का 'विष्णु-पुराण' में सविस्तार वर्णन है।

– यहाँ भी चारों प्रकार के सभी स्थूल शरीर, एक तथा अनेक के आशय से, वन या जलाशय के समान समष्टि तथा वृक्ष या जल के समान व्यष्टि भी होते हैं।

एतत्-समष्टि-उपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराट् इति उच्यते सर्व-नर-अभिमानित्वात् विविधं राजमानत्वात् च।।१११।।

– स्थूल शरीरों की यह समष्टि उपाधियुक्त चैतन्य, सर्वदेह-अभिमानी होने से *'वैश्वानर'* तथा विविध प्रकार से अभिव्यक्त होने के कारण *'विराट्'* कहलाता है।

अस्य एषा समष्टिः स्थूल-शरीरम् अन्न-विकारत्वात् अन्नमय-कोशः स्थूल-भोगायतन-त्वात् च स्थूल-शरीरं जाग्रत-इति च व्यपदिश्यते।।११२।।

– अन्न का विकार होने के कारण विराट् के स्थूल शरीरों की इस समष्टि को *'अन्नमय-कोश'* कहा जाता है और स्थूल विषयों के भोग का आश्रय होने के कारण *'स्थूल-शरीर'* और *'जाग्रत'* (अवस्था) भी कहा जाता है।

एतत् व्यष्टि उपहितं चैतन्यं विश्व इति उच्यते सूक्ष्म-शरीर-अभिमानम् अपरित्यज्य स्थूल-शरीर आदि-प्रविष्टत्वात्।।११३।।

– सूक्ष्म शरीर का अभिमान त्यागे विना ही स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होने के कारण, इस व्यष्टि उपाधियुक्त चैतन्य को *'विश्व'* कहते हैं।

अस्य अपि एषा व्यष्टिः स्थूलशरीरम् अन्न-विकारत्वात् एव हेतोः अन्नमय-कोशो जाग्रत-इति च उच्यते।।११४।।

– इस (जीव) के भी व्यष्टि स्थूल शरीर को अन्न का विकार होने से *'अन्नमय कोश'* और *'जाग्रत'* (अवस्था) कहते हैं।

तदानीम् एतौ विश्व-वैश्वानरौ दिक्-वात-अर्क-वरुण-अश्विभिः क्रमात् नियन्त्रितेन श्रोत्र-आदि-इन्द्रिय-पञ्चकेन क्रमात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धान् अग्नि-इन्द्र-उपेन्द्र-यम-प्रजापतिभिः क्रमात् नियन्त्रितेन वाक्-आदि-इन्द्रिय-पञ्चकेन क्रमात् वचन-आदान-गमन-

विसर्ग-आनन्दान् चन्द्र-चतुर्मुख-शङ्कर-अच्युतैः क्रमात् नियन्त्रितेन मनो-बुद्धि-अहङ्कार-चित्त-आख्येन-अन्तरिन्द्रिय-चतुष्केण क्रमात् सङ्कल्प-निश्चय-अहङ्कार्य-चैत्तान् च सर्वान् एतान् स्थूलविषयान् अनुभवतः। 'जागरित-स्थानो बहिःप्रज्ञः'(माण्डु.उ. ३) इत्यादि-श्रुतेः।।११५।।

– इस (जाग्रत अवस्था) में विश्व (स्थूल व्यष्टि-चैतन्य) तथा वैश्वानर (स्थूल समष्टि-चैतन्य) – दोनों ही दिशा, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमार नामक देवताओं द्वारा नियंत्रित होकर, कर्ण आदि (त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण) पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का (अनुभव करते हैं) और प्रजापति आदि (अग्नि, इन्द्र, विष्णु, यम तथा प्रजापति) देवताओं के द्वारा नियंत्रित होकर क्रमशः वाक् आदि (हस्त, पाद, पायु तथा उपस्थ) पाँच कर्मेन्द्रियों से क्रमशः वचन, ग्रहण, गमन, उत्सर्जन तथा आनन्द का (अनुभव करते हैं) और चन्द्रमा, चतुर्मुख (ब्रह्मा), शंकर तथा अच्युत (विष्णु) नामक देवताओं से नियंत्रित होकर क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त नामक चार अन्तः इन्द्रियों के द्वारा क्रमशः संकल्प, निश्चय, अहंकरण तथा स्मृति-चिन्तन का अनुभव (भोग) करते हैं। ये सभी अनुभव स्थूल विषयों के होते हैं। – "जाग्रत अवस्था में जो बाह्य जगत् का अनुभव करता है" – आदि श्रुतियों में यही कहा गया है।[१६]

१६. इसे निम्नलिखित तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है –

देवता	दिक्	वायु	सूर्य	वरुण	अश्विनीकुमार
इन्द्रिय/करण	कर्ण	त्वचा	चक्षु	जिह्वा	घ्राण
विषय/कर्म	शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध
देवता	अग्नि	इन्द्र	विष्णु	यम	प्रजापति
इन्द्रिय/करण	वाक्	हस्त	पाद	पायु	उपस्थ
विषय/कर्म	वचन	ग्रहण	गमन	उत्सर्जन	आनन्द
देवता	चन्द्रमा	ब्रह्मा	शंकर	अच्युत (विष्णु)	
इन्द्रिय/करण	मन	बुद्धि	अहंकार	चित्त	
विषय/कर्म	संकल्प	निश्चय	अहंकरण	स्मृति-चिन्तन	

अत्रापि अनयोः स्थूल-व्यष्टि-समष्ट्योः तत्-उपहित-विश्व-वैश्वानरयोः च वनवृक्षवत् तत्-अवच्छिन्न-आकाशवत् च जलाशय-जलवत् तद्गत-प्रतिबिम्ब-आकाशवत् च पूर्ववत्-अभेदः।।११६।।

– यहाँ भी स्थूल व्यष्टि तथा समष्टि में एवं उपाधियोंसे आवृत विश्व तथा वैश्वानर में – वन तथा वृक्ष के समान एवं उन दोनों से सीमित आकाश के समान और जलाशय तथा जल एवं उनमें प्रतिबिम्बित आकाश के समान ही पूर्ववत् अभेद हैं।

एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्च-उत्पत्तिः।।११७।।

– इस प्रकार पंचीकृत पंचभूतों से स्थूल प्रपंच – जगत् की उत्पत्ति हुई है।

अध्यारोप की सीमा

एतेषां स्थूल-सूक्ष्म-कारण-प्रपञ्चानाम् अपि समष्टिः एको महान्-प्रपञ्चो भवति यथा अवान्तर-वनानां समष्टिः एकं महद्-वनं भवति यथा वा अवान्तर-जलाशयानां समष्टिः एको महान् जलाशयः।।११८।।

– जैसे अलग अलग वनों की समष्टि से एक महावन होता है अथवा जैसे अलग अलग जलाशयों की समष्टि से एक महा जलाशय बनता है, वैसे ही इन स्थूल-सूक्ष्म-कारण प्रपंचों (जगतों) की समष्टि से भी एक महाप्रपंच (ब्रह्माण्ड) बनता है।

एतत्-उपहितं वैश्वानर-आदि ईश्वर-पर्यन्तं चैतन्यम् अपि अवान्तर-वन-अवच्छिन्न-आकाशवत् अवान्तर जलाशय-गत-प्रतिबिम्ब-आकाशवत् च एकम् एव।।११९।।

– जैसे अलग अलग वनों से आच्छादित आकाश तथा अलग अलग जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही हैं, वैसे ही वैश्वानर आदि (स्थूल समष्टि) से लेकर ईश्वर (कारण समष्टि) तक का उपाधियुक्त चैतन्य भी एक ही है।

आभ्यां महा-प्रपञ्च-तद्-उपहित-चैतन्याभ्यां तप्त-अयःपिण्डवत् अविविक्तं सत् अनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा.उ. ३/१४/१) इति वाक्यस्य वाच्यं भवति, विविक्तं सत् लक्ष्यम् अपि भवति।।१२०।।

– तप्त लौहपिण्ड के समान महाप्रपंच (ब्रह्माण्ड) तथा उस उपाधि से युक्त चैतन्य एवं उपाधिरहित चैतन्य, ये सब एक साथ मिलकर "यह सब कुछ ब्रह्म ही है" – इस महावाक्य का वाच्यार्थ तथा उपाधिरहित चैतन्य उन दोनों से अलग कर लिया जाने पर लक्ष्यार्थ भी बनता है।

एवं वस्तुनि अवस्तु-आरोपो अध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः।।१२१।।

– इस प्रकार वस्तु (चैतन्य, ब्रह्म) में अवस्तु (प्रपंच) के आरोप के रूप में *'अध्यारोप'* सामान्य रूप से दिखाया गया।

□□□

अध्याय ३

जीव तथा अध्यारोप

चार्वाक मत –

इदानीं प्रत्यगात्मनि 'इदम्' 'इदम्' 'अयम्' 'अयम्' आरोपयति इति विशेषत उच्यते।।१२२।।

– अब विशेष रूप से यह बताया जायेगा कि किस प्रकार (अज्ञानी) लोग इस अन्तरात्मा पर (पुत्र, देह आदि के रूप में) विविध प्रकार से 'मैं यह हूँ, मैं यह हूँ' का आरोपण करते हैं।

अतिप्राकृतः तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' (कौशीतकी उ. २/११) इत्यादि-श्रुतेः स्वस्मिन् इव पुत्रे अपि प्रेमदर्शनात् पुत्रे पुष्टे नष्टे च अहम् एव पुष्टो नष्टः च इत्यादि अनुभवात् च पुत्र आत्मा इति वदति।।१२३।।

– अति प्राकृत (स्थूल बुद्धि के) लोग "स्वयं ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है" – आदि श्रुतियों; अपने ही समान पुत्र पर भी प्रेम उमड़ते देखकर (इस युक्ति) और पुत्र के पुष्ट या नष्ट होने पर स्वयं के ही पुष्ट या नष्ट होने आदि अनुभव के आधार पर पुत्र को ही आत्मा कहते हैं।

चार्वाकः तु 'स वा एष पुरुषः अन्न-रसमयः' (तै.उ. २/१/१) इत्यादि-श्रुतेः प्रदीप्त-गृहात् स्वपुत्रं परित्यज्य अपि स्वस्य निर्गम-दर्शनात् 'स्थूलो अहं' 'कृशो अहं' इत्यादि अनुभवात् च स्थूल-शरीरं आत्मा इति वदति।।१२४।।

– परन्तु चार्वाक मतावलम्वी तो "यह अन्न-रसमय पुरुष ही आत्मा है" आदि श्रुतियों; लोगों को जलते हुए घर से पुत्र को भी छोड़कर भागते हुए

अपनी जान बचाते देखकर (इस युक्ति) और 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ' आदि अनुभूतियों के आधार पर 'स्थूल देह' को ही आत्मा कहते हैं।

अपरः चार्वाकः "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरम् इति ऊचुः" (छा.उ. ५/१/७) इत्यादि-श्रुतेः इन्द्रियाणाम् अभावे शरीर-चलन-अभावात् 'काणो अहं' 'बधिरो अहं' इत्यादि अनुभवात् च इन्द्रियाणि आत्मा इति वदति।।१२५।।

– अन्य चार्वाक मतावलम्बी "इन्द्रियाँ अपने पिता प्रजापति के पास जाकर बोलीं" – आदि श्रुतियों; इन्द्रियों के अभाव में शरीर कार्य नहीं करता (इस युक्ति) और 'मैं काना हूँ', 'मैं बहरा हूँ' – आदि अनुभूतियों के आधार पर 'इन्द्रियों' को ही आत्मा कहते हैं।

अपरः चार्वाकः 'अन्यः अन्तरात्मा प्राणमयः' (तै.उ. २/२/१) इत्यादि-श्रुतेः प्राण-अभावे इन्द्रिय-आदि-चलन-अयोगात् 'अहम् अशनायावान्' 'अहं पिपासावान्' इत्यादि अनुभवात् च प्राण आत्मा इति वदति।।१२६।।

– अन्य चार्वाक मतावलम्बी "(स्थूल शरीर से भिन्न) दूसरी अन्तरात्मा प्राणमय है" – आदि श्रुतियों; श्वसन क्रिया के अभाव में इन्द्रियाँ भी निष्क्रिय हो जाती हैं (इस युक्ति) और 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' – आदि अनुभूतियों के आधार पर भी 'प्राण' को ही आत्मा कहते हैं।

अन्यः तु चार्वाकः 'अन्यः अन्तरात्मा मनोमयः' (तै.उ. २/३/१) इत्यादि-श्रुतेः मनसि सुप्ते प्राणादेः अभावात् 'अहं सङ्कल्पवान्' 'अहं विकल्पवान्' इत्यादि अनुभवात् च मन आत्मा इति वदति।।१२७।।

– अन्य चार्वाक मतावलम्बी (प्राण से भिन्न) "दूसरी अन्तरात्मा मनोमय है" – आदि श्रुतियों; मन के सो जाने पर प्राणों का अभाव हो जाता है (इस युक्ति) और 'मैं संकल्प करता हूँ', 'मैं विकल्प करता हूँ' – आदि अनुभूतियों के आधार पर 'मन' को ही आत्मा कहते हैं।

बौद्ध-मत –

बौद्धः तु 'अन्यः अन्तरात्मा विज्ञानमयः' (तै.उ. २/४/१) **इत्यादि-श्रुतेः कर्तुः अभावे करणस्य शक्ति-अभावात् 'अहं कर्ता' 'अहं भोक्ता' इत्यादि अनुभवात् च बुद्धिः आत्मा इति वदति।।१२८।।**

– बौद्ध मतावलम्वी (मन से भिन्न) "दूसरी अन्तरात्मा विज्ञानमय है" – आदि श्रुतियों; कर्ता के अभाव में करण (मन तथा इन्द्रियाँ) अशक्त हो जाते हैं (इस युक्ति) और 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ' – आदि अनुभूतियों के आधार पर 'बुद्धि' को ही आत्मा कहते हैं।

प्राभाकर-तार्किकौ तु 'अन्यः अन्तरात्मा आनन्दमयः' (तै.उ. २/५/१) **इत्यादि-श्रुतेः बुद्धि-आदीनाम् अज्ञाने लय-दर्शनात् 'अहम् अज्ञः' 'अहम् अज्ञानी' इत्यादि अनुभवात् च अज्ञानम् आत्मा इति वदतः।।१२९।।**

– प्रभाकर के अनुयायी (मीमांसक) तथा न्यायवादी "(बुद्धि से भी भिन्न) दूसरी अन्तरात्मा आनन्दमय है" – आदि श्रुतियों; सुषुप्ति-अवस्था में बुद्धि आदि अज्ञान में लय हो जाते हैं (इस युक्ति) एवं 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ' – आदि अनुभूतियों के आधार पर अज्ञान को ही आत्मा कहते हैं।

भाट्टः तु 'प्रज्ञानघन एव आनन्दमयः' (माण्डु.उ. ५) **इत्यादि-श्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाश-अप्रकाश-सद्भावात् 'माम् अहं न जानामि' इत्यादि अनुभवात् च अज्ञान-उपहितं चैतन्यम् आत्मा इति वदति।।१३०।।**

– कुमारिल भट्ट के अनुयायी (मीमांसक) "(सुषुप्ति अवस्था में) यह आत्मा प्रज्ञानघन और आनन्दमय है" – आदि श्रुतियों; सुषुप्ति की अवस्था में चेतना और अचेतना दोनों की विद्यमानता (इस युक्ति) और 'मैं स्वयं को नहीं जानता' – आदि अनुभूतियों के आधार पर 'अज्ञान उपाधियुक्त चैतन्य' को आत्मा कहते हैं।

शून्यवादी –

अपरो बौद्धः 'असद् एव इदम् अग्र आसीत्' (छा.उ. ६/२/१)

इत्यादि-श्रुतेः सुषुप्तौ सर्व-अभावात् 'अहं सुषुप्तौ न आसम्' इति उत्थितस्य स्व-अभाव-परामर्श-विषय-अनुभवात् च शून्यम् आत्मा इति वदति।।१३१।।

– अन्य बौद्ध मतावलम्बी "(सृष्टि के पूर्व) आरम्भ में यह सब केवल असत् ही था" – आदि श्रुतियों; सुषुप्ति की अवस्था में सब कुछ का अभाव हो जाने (इस युक्ति) और निद्रा से उठे हुए व्यक्ति का यह कहना कि 'सुषुप्ति के समय मेरा अभाव (अस्तित्व-लोप) हो गया था' – इस अनुभूति के आधार पर 'शून्य' को ही आत्मा कहते हैं।

आत्मा के सच्चे स्वरूप की स्थापना

एतेषां पुत्र-आदीनाम् अनात्मत्वम् उच्यते।।१३२।।

– अब इन पुत्र (से शून्य तक) आदि की अनात्मता बतायी जाती है।

एतैः अति-प्राकृतादि-वादिभिः उक्तेषु श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासेषु पूर्वपूर्व-उक्त श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासानाम् उत्तरोत्तर-श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासैः आत्मत्व-बाध-दर्शनात् पुत्रादीनाम् अनात्मत्वं स्पष्टम् एव।।१३३।।

– चूँकि अति-प्राकृत आदि (अत्यन्त स्थूलबुद्धिवालों से लेकर बौद्धों तक) सभी वादियों द्वारा कही गयी आभास-रूप श्रुति, युक्ति तथा अनुभूतियों में से, उत्तरोत्तर कही गयी आभास-रूप श्रुति, युक्ति तथा अनुभूतियों के द्वारा (उनके) पूर्व कही गयी आभास-रूप श्रुति, युक्ति तथा अनुभूतियों की आत्मता बाधित हो जाती है, अतः पुत्रादि की अनात्मता स्पष्ट ही है।

किञ्च प्रत्यक् अस्थूलः अचक्षुः अप्राणः अमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सत् इत्यादि-प्रबल-श्रुति-विरोधात् अस्य पुत्रादि-शून्य-पर्यन्तस्य जडस्य चैतन्य-भास्यत्वेन घटादि-वत् अनित्यत्वात् अहं ब्रह्म इति विद्वद्-अनुभव-प्राबल्यात् च तत्तत्-श्रुति-युक्ति-अनुभव-

आभासानां बाधितत्वात् अपि पुत्रादि-शून्य-पर्यन्तम् अखिलम् अनात्मा एव।।१३४।।

– इसके अतिरिक्त (आत्मा के) अन्तःस्थ, अस्थूल, अचक्षु, अप्राण, अमना, अकर्ता, चिन्मात्र और सत्स्वरूप आदि का निरूपण करनेवाली प्रवल श्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण, तथा (द्वितीयतः) इन पुत्र आदि से लेकर शून्य तक के जड़ वर्ग, चैतन्य द्वारा प्रकाशनीय होने से घटादि की तरह अनित्य होने (की युक्ति) और (अन्ततः) ज्ञानियों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस प्रवल अनुभूति के आधार पर, उन उन आभासात्मक श्रुतियों, युक्तियों तथा अनुभूतियों के वाधित हो जाने के कारण भी पुत्र आदि से शून्य तक सव कुछ अनात्मा ही है।

अतः तत्तत्-भासकं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभावं प्रत्यक्-चैतन्यम्. एव आत्म-वस्तु इति वेदान्त-विद्वद्-अनुभवः।।१३५।।

– इस कारण उनमें से प्रत्येक (पुत्र से लेकर शून्य तक) को प्रकाशित करनेवाला और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाववाला अन्तःस्थ चैतन्य ही आत्मवस्तु है – यही वेदान्तविदों की अनुभूति है।

एवम्-अध्यारोपः।।१३६।।

– इस प्रकार (वस्तु पर अवस्तु का) अध्यारोप दिखाया गया।

□□□

अध्याय ४

अपवाद

(अध्यारोप-निवारण, मूल कारण में वापस जाना)

अपवादो नाम रज्जु-विवर्तस्य सर्पस्य रज्जु-मात्रत्ववत् वस्तु-विवर्तस्य अवस्तुनः अज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तु-मात्रत्वम्।।१३७।।

– जिस प्रकार रस्सी में अविद्या से उत्पन्न सर्प की भ्रान्ति मिटने पर अन्ततः वह रस्सी ही रह जाती है, उसी प्रकार आत्म-वस्तु पर आरोपित अज्ञान आदि जगत्-प्रपंच भी अन्ततः 'वस्तु' (ब्रह्म) ही रह जाने को *'अपवाद'* कहते हैं।

तद्-उक्तम् – 'सतत्त्वतो-अन्यथा-प्रथा विकार इति उदीरितः। अ-तत्त्वतो-अन्यथा-प्रथा विवर्त इति उदीरितः।।'' इति।।१३८।।

– कहा भी है – "(दूध का दही के समान) एक वस्तु का दूसरे में वास्तविक परिणति को *'विकार'* कहते हैं, जबकि (रस्सी के सर्प रूप में दिखने के समान) उसके प्रातिभासिक रूप प्रतीति को *'विवर्त'* कहते हैं।"

तथाहि एतद्-भोगायतनं चतुर्विध-सकल-स्थूल-शरीर-जातं भोग्यरूप-अन्न-पान-आदिकम् एतद्-आयतनभूत-भूः-आदि-चतुर्दश-भुवनानि एतद्-आयतनभूतं ब्रह्माण्डं च एतत्-सर्वम् एतेषां कारणरूपं पञ्चीकृत-भूतमात्रं भवति।।१३९।।

– इस रीति से भोग के आश्रयरूप (जरायुज आदि) चार प्रकार के भौतिक शरीर, उनके भोग्य-रूप विभिन्न प्रकार के अन्न-पेय आदि, उन्हें धारण करनेवाले भूः आदि चौदह लोक और उनका आश्रयभूत यह ब्रह्माण्ड – ये सभी अपने कारणरूप पंचीकृत स्थूल भूत मात्र रह जाते हैं।

एतानि शव्दादि-विषय-सहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्म-शरीरजातं च एतत्-सर्वम् एतेषां कारण-रूप-अपञ्चीकृत-भूतमात्रं भवति।।१४०।।

– शव्द आदि पाँच विषयों के साथ पंचीकृत (पाँच स्थूल) भूत और सूक्ष्म शरीर – ये सभी अपने कारण-रूप अपंचीकृत भूत के रूप में रह जाते हैं।

एतानि सत्त्वादि-गुण-सहितानि अपञ्चीकृतानि उत्पत्ति-व्युत्क्रमेण एतत्-कारणभूत-अज्ञान-उपहित-चैतन्यमात्रं भवति।।१४१।।

– ये पाँच अपंचीकृत भूत (पदार्थ) सत्त्व, रजस् आदि गुणों के साथ, अपनी उत्पत्ति के उल्टे क्रम से, अपने कारणरूप अज्ञान-उपाधियुक्त चैतन्य मात्र रह जाते हैं।

एतद्-अज्ञानम् अज्ञान-उपहितं चैतन्यं च ईश्वर-आदिकम् एतद्-आधारभूत-अनुपहित-चैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।।१४२।।

– यह अज्ञान और उस अज्ञान उपाधि से युक्त चैतन्यरूप ईश्वर आदि अपने आधारभूत उपाधिरहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्ममात्र ही रह जाते हैं।

आभ्याम् अध्यारोप-अपवादाभ्यां तत्-त्वम्-पदार्थ-शोधनम् अपि सिद्धं भवति।।१४३।।

– इस अध्यारोप एवं अपवाद की प्रक्रिया से 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ का शोधन (यथार्थ वोध) भी सिद्ध हो जाता है।

तथाहि – अज्ञान-आदि-समष्टिः एतद्-उपहितं सर्वज्ञत्व-आदि-विशिष्टं चैतन्यम् एतद्-अनुपहितं च एतत्-त्रयं तप्त-अयःपिण्डवद्-एकत्वेन-अवभासमानं तत्पद-वाच्यार्थो भवति।।१४४।।

– ऐसा होने से अज्ञान आदि (स्थूल, सूक्ष्म) की समष्टि, उन उपाधियों से विशिष्ट तथा सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त चैतन्य (ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट्) और उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) – ये तीनों तप्त लौहपिण्ड के समान एक (अभिन्न) प्रतीत होते हुए 'तत्' शब्द

के वाच्यार्थ (शाब्दिक अर्थ) होते हैं।

एतद्-उपाधि-उपहित-आधारभूतम् अनुपहितं चैतन्यं तत्-पद-लक्ष्यार्थो भवति।।१४५।।

– इन उपाधियों से युक्त चैतन्य (ईश्वर) का आधारभूत शुद्ध या निरुपाधिक चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

अज्ञानादि-व्यष्टिः एतद्-उपहित-अल्पज्ञत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यम् एतद्-अनुपहितं च एतत्-त्रयं तप्त-अयःपिण्डवद्-एकत्वेन-अवभासमानं त्वम्-पद-वाच्यार्थो भवति।।१४६।।

– अज्ञान आदि (स्थूल, सूक्ष्म शरीर) की व्यष्टि, उस उपाधि से युक्त – अल्पज्ञत्व आदि विशेषताओं वाला चैतन्य (प्राज्ञ, तेजस्, विश्व आदि) और निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य – ये तीनों तप्त लौहपिण्ड के समान एक (अभिन्न) प्रतीत होते हुए 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ होते हैं।

एतद्-उपाधि-उपहित-आधारभूतम् अनुपहितं प्रत्यग्-आनन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्-पद-लक्ष्यार्थो भवति।।१४७।।

– (इन) उपाधियों से युक्त जीव का आधारभूत शुद्ध या निरुपाधिक प्रत्यगानन्द-रूप तुरीय चैतन्य – 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

'तत्त्वमसि' का तात्पर्य

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसि-वाक्यं सम्बन्ध-त्रयेण अखण्ड-अर्थबोधकं भवति।।१४८।।

– अब महावाक्यों के अर्थ का वर्णन करते हैं । यह 'तत्त्वमसि' वाक्य तीन (तरह के) सम्बन्धों द्वारा ब्रह्म के अखण्ड अर्थ का बोधक है ।

सम्बन्ध-त्रयं नाम पदयोः सामान-अधिकरण्यं, पदार्थयोः विशेषण-विशेष्य-भावः, प्रत्यगात्म-लक्षणयोः लक्ष्य-लक्षण-भावः च इति।।१४९।।

– तीन सम्बन्ध इस प्रकार हैं – (पहला) समान-अधिकरण-भाव अर्थात्

(समान आश्रय में रहनेवाले) दो पदों के वीच का सम्बन्ध, (दूसरा) पदों के अर्थ का विशेषण-विशेष्य-भाव (विशेष्य पद तथा उसकी विशेषता वतानेवाले दो पदों के अर्थों के बीच का सम्बन्ध), और (तीसरा) प्रत्यगात्मा और उसका लक्षण वतानेवाला – (इन दोनों के बीच का सम्बन्ध) लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्ध है।

तद्-उक्तम् – 'सामान-अधिकरण्यं च विशेषण-विशेष्यता। लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्धः पदार्थ-प्रत्यग्-आत्मनाम्'। (नैष्कर्म्य-सिद्धि ३/३) इति।।१५०।।

– कहा है – पद, अर्थ और उनसे लक्षित अन्तरात्मा के वीच (१) भिन्न निमित्त को लेकर प्रवृत्त हुए शब्दों का एक ही अर्थ में तात्पर्य होने को 'समान-अधिकरण-भाव' सम्बन्ध कहते हैं, (२) विशेष्य और उसकी विशेषता वतानेवाले – दो शब्दों के अर्थों के वीच के सम्बन्ध को 'विशेषण-विशेष्य-भाव' और (३) दो शब्दों तथा उनके लक्ष्य (यहाँ अन्तरात्मा) के बीच का सम्बन्ध 'लक्ष्य-लक्षण-भाव' कहलाता है ।

सामान-अधिकरण्य-सम्बन्धः तावत् यथा 'सः अयं देवदत्त' इति अस्मिन् वाक्ये तत्काल-विशिष्ट-देवदत्त-वाचक-स-शब्दस्य एतत्-काल-विशिष्ट-देवदत्त-वाचक-अयं-शब्दस्य च एकस्मिन् पिण्डे तात्पर्य-सम्बन्धः। तथा च 'तत् त्वम् असि' इति वाक्ये अपि परोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-वाचक-तत्-पदस्य अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-वाचक-त्वम्-पदस्य च एकस्मिन् चैतन्ये तात्पर्य-सम्बन्धः।।१५१।।

– समान (एक ही) अधिकरण (आश्रय) में रहनेवाले दो शब्दों के वीच का सम्बन्ध – यथा 'यह वही देवदत्त है' – इस वाक्य का 'वही' शब्द तत्काल (अतीत) विशिष्ट देवदत्त और 'यह' शब्द एतत् (वर्तमान) काल विशिष्ट देवदत्त – इस प्रकार दोनों शब्दों का एक ही व्यक्ति में वोधन कराना 'सामान्य-अधिकरण्य' सम्बन्ध कहलाता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' शब्द

द्वारा परोक्षत्व आदि गुणयुक्त चैतन्य (का बोध कराकर) और 'त्वम्' शब्द के द्वारा अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट गुणयुक्त चैतन्य (का बोध कराकर) एक ही चैतन्य (ब्रह्म) है – ऐसे तात्पर्य का बोधन कराना, इस (सामान्य-अधिकरण्य) सम्बन्ध का यही तात्पर्य है।

विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्धः तु यथा तत्रैव वाक्ये स-शब्दार्थ-तत्-काल-विशिष्ट-देवदत्तस्य अयं-शब्दार्थ-एतत्-काल-विशिष्ट-देवदत्तस्य च अन्योन्य-भेद-व्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्य-भावः। तथा अत्र अपि वाक्ये 'तत्' पदार्थ-परोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य 'त्वम्'-पदार्थ-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य च अन्योन्य-भेद-व्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्य-भावः।।१५२।।

– विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध के उदाहरणार्थ – उसी 'यह वही देवदत्त है' – वाक्य में 'वही' शब्द तत् काल (अतीत) विशिष्ट देवदत्त का और 'यह' शब्द एतत् काल (वर्तमान) विशिष्ट का बोधक है। यहाँ एक दूसरे से भेद के व्यावर्तन (निवारण) द्वारा विशेषण-विशेष्य-भाव है । वैसे ही उसी 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' शब्द परोक्षत्व आदि विशिष्ट (गुणोंवाले) चैतन्य तथा 'त्वम्' शब्द अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट (गुणोंवाले) चैतन्य का बोधक है और यहाँ परस्पर भेद का निवारण द्वारा विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध है।

लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्धः तु यथा तत्र एव स-शब्द-अयं-शब्दयोः तदर्थयोः वा विरुद्ध-तत्काल-एतत्काल-विशिष्टत्व-परित्यागेन अविरुद्ध-देवदत्तेन सह लक्ष्य-लक्षण-भावः। तथा अत्र-अपि वाक्ये तत्त्वम्पदयोः तदर्थयोः वा विरुद्ध-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्टत्व-परित्यागेन अविरुद्ध-चैतन्येन सह लक्ष्य-लक्षण-भावः।।१५३।।

– लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्ध के उदाहरणार्थ – उसी वाक्य में 'वही' तथा 'यह' शब्दों या उनके अर्थों में से, 'तत्' काल (अतीत) तथा 'एतत्' काल (वर्तमान) के परस्पर-विरोधी विशिष्ट सम्बन्ध (विशेषण) को निकाल

देने से दोनों का एक ही देवदत्त के साथ लक्ष्य-लक्षण-भाव (सम्बन्ध) होता है, वैसे ही यहाँ इस ('तत्त्वमसि') वाक्य में भी 'तत्' तथा 'त्वम्' शब्दों या उनके अर्थों के परस्पर-विरोधी परोक्षत्व-अपरोक्षत्व (विशेष) गुणोंवाले अंशों के निकाल देने पर अविरुद्ध एक ही चैतन्य के साथ उनका लक्ष्य-लक्षण-भाव (सम्बन्ध) हो जाता है।

इयम् एव भाग-लक्षणा इति उच्यते।।१५४।।

– इसी को 'भाग-लक्षणा'[१७] भी कहते हैं।

अस्मिन् वाक्ये 'नीलम्-उत्पलम्' इति वाक्यवत् वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।।१५५।।

– 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य के समान इस ('तत्त्वमसि') वाक्य में उसका अर्थ सुसंगत नहीं होता।

तत्र तु नील-पदार्थ-नील-गुणस्य उत्पल-पदार्थ-उत्पल-द्रव्यस्य च शौक्ल्य-पटादि-भेद-व्यावर्तकतया अन्योन्य-विशेषण-विशेष्य-रूप-संसर्गस्य अन्यतर-विशिष्टस्य अन्यतरस्य तद् ऐक्यस्य वा वाक्यार्थत्व-अङ्गीकारे प्रमाणान्तर-विरोध-अभावात् तद्-वाक्यार्थः सङ्गच्छते।।१५६।।

– 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य में 'नीलम्' शब्द का अर्थ है – नीला रंग, जो कि पदार्थों में आश्रित गुण है और 'उत्पलम्' का अर्थ है कमल पुष्प नामक पदार्थ। ये (क्रमशः) श्वेत आदि रंग तथा वस्त्र आदि पदार्थों के सजातीय-विजातीय भेदों का निराकरण करते हुए, उनकी आपसी विशिष्टता या तादात्म्य दर्शाते हैं। ऐसी स्थिति में किसी अन्य प्रमाण के साथ विरोध के अभाव में यह वाक्यार्थ सुसंगत तथा स्वीकार्य है।

अत्र तु तत्-पदार्थ-परोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य त्वं-पदार्थ-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य च अन्योन्य-भेद-

१७. लक्षणा – शब्द-प्रयोग-भेद या शब्द का गौण प्रयोग, जिससे शब्द का अर्थ अंशतः रह जाता है और अंशतः खो जाता है।

व्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्य-भाव-संसर्गस्य-अन्यतर-विशिष्टस्य अन्यतरस्य तद्-ऐक्यस्य वा वाक्यार्थत्व-अङ्गीकारे प्रत्यक्षादि-प्रमाणविरोधात् वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।।१५७।।

– परन्तु यहाँ ('तत्त्वमसि' में) 'तत्' शब्द का अर्थ परोक्षत्व आदि गुणोंवाला चैतन्य और 'त्वम्' शब्द का अर्थ अपरोक्षत्व आदि गुणों वाला चैतन्य है। इसमें एक का दूसरे से (आपसी) भेद का निराकरण द्वारा इन दोनों के बीच 'विशेषण-विशेष्य-भाव' (सम्बन्ध) है, अथवा उनकी आपसी अभिन्नता दर्शाता है – ऐसा स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के साथ विरोध होने के कारण यह संगत नहीं है।

तद्-उक्तम् – 'संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नाऽत्र सम्मतः। अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।' (पंचदशी, ७/७५) इति।।१५८।।

– कहा भी गया है – "(मीमांसकों आदि के मतानुसार) दो प्रकार के वाक्यार्थ होते हैं – संसर्ग (दो पदों के अर्थ का एकीकरण) तथा विशिष्ट (उनकी परस्पर विशेष्य-विशेषता दिखाना)। (परन्तु) ये दोनों प्रकार के अर्थ यहाँ ('तत्त्वमसि' वाक्य में) सम्मत नहीं हैं, क्योंकि विद्वानों को 'अखण्ड एकरस' वाक्यार्थ ही इष्ट है।"

अत्र गङ्गायां घोषः प्रतिवसति इति वाक्यवत् जहल्लक्षणा अपि न संगच्छते।।१५९।।

– 'गंगा में गाँव' – इस वाक्य के समान यहाँ ('तत्त्वमसि' वाक्य में) 'जहत्-लक्षणा'[१८] भी संगत नहीं है।

तत्र तु गङ्गाघोषयोः आधार-आधेय-भाव-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य-

---

१८. जहत् का अर्थ है – छोड़ता हुआ। जहल्लक्षणा = जिसमें एक शब्द अपने मूल अर्थ को छोड़ता हुआ उससे सम्बन्ध मात्र प्रदर्शित करता है, जैसे 'गंगा का गाँव' का अर्थ है – 'गंगातट पर स्थित गाँव'। इसी को भाग-त्याग लक्षणा भी कहते हैं, भाग अर्थात् अंश का त्याग।

अशेषतो विरुद्धत्वात् वाक्यार्थम् अशेपतः परित्यज्य तत्सम्बन्धि-तीर-लक्षणाया युक्तत्वात् जहल्लक्षणा सङ्गच्छते।।१६०।।

– यहाँ 'गंगा' तथा 'गाँव' शब्दों का शब्दशः, आधार (गंगा) में आधेय (गाँव) अर्थ लें तो वह अत्यन्त विरुद्ध हो जाता है, अत: उसे पूरी तौर से त्यागकर उससे सम्बन्धित तट की लक्षणा (संकेत) उपयुक्त होने के कारण यहाँ जहत्-लक्षणा ही संगत होती है।

अत्र तु परोक्ष-अपरोक्ष-चैतन्य-एकत्व-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधात् भागान्तरम् अपि परित्यज्य अन्य-लक्षणाया अयुक्तत्वात् जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।।१६१।।

– यहाँ ('तत्त्वमसि' में) परोक्ष तथा अपरोक्ष चैतन्य का एकत्व रूप वाक्यार्थ के केवल (परोक्ष-अपरोक्ष) अंशमात्र में विरोध होने के कारण, दूसरे भाग को भी छोड़कर अन्य में लक्षणा करना उचित नहीं होगा, अत: यहाँ जहत् लक्षणा संगत नहीं।

न च गङ्गापदं स्वार्थ-परित्यागेन तीर-पदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्व-अर्थ-परित्यागेन त्वं-पदार्थं तत्-पदार्थं वा लक्षयतु अतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते इति वाच्यम्।।१६२।।

– और ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि जैसे वहाँ 'गंगा' शब्द अपने मूल (मुख्य) अर्थ को छोड़कर 'तट' की ओर इंगित करता है, उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' शब्द अपने अर्थ को छोड़कर क्रमशः 'त्वम्' और 'तत्' का लक्ष्यार्थ बोध कराएँ, अत: यहाँ जहत् लक्षण क्यों संगत नहीं होगा?

तत्र तीर-पद-अश्रवणेन तदर्थ-अप्रतीतौ लक्षणया तत्-प्रतीति-अपेक्षायाम् अपि तत्त्वम्-पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थ-प्रतीतौ लक्षणया पुनः अन्यतर-पदेन अन्यतर-पदार्थ-प्रतीति-अपेक्षा-अभावात्।।१६३।।

– (ऐसा इसलिए कि) उस 'गंगा में गाँव' वाक्य में तट शब्द का उल्लेख नहीं है और (अत:) उसका अर्थ स्पष्ट न होने के कारण लक्षणा के द्वारा उसका अर्थ निकालना अपेक्षित है। पर यहाँ ('तत्त्वमसि' में) 'तत्' और 'त्वम्' दोनों

हीं शब्दों का उल्लेख है और उनके अर्थ भी स्पष्ट हैं, अत: यहाँ लक्षणा के द्वारा एक शब्द के द्वारा दूसरे का बोध कराना उचित नहीं है।

अत्र 'शोणो धावति' इति-वाक्यवत् अजहल्लक्षणा अपि न सम्भवति।।१६४।।

– यहाँ ('तत्त्वमसि' में) 'लाल दौड़ता है' – वाक्य के समान (जिसमें लाल रंग के साथ एक घोड़े को जोड़कर अर्थ निकाल लेते हैं) 'अजहत्-लक्षणा' भी सम्भव नहीं है।

तत्र शोण-गुण-गमन-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तद्-अपरित्यागेन तद्-आश्रय-अश्वादि-लक्षणया तद्विरोध-परिहार-सम्भवात् अजहत्-लक्षणा सम्भवति।।१६५।।

– वहाँ 'लाल' रंग के साथ 'गति' (दौड़ना) रूप अर्थ विरोधी होने के कारण, उस (लाल रंग) को न त्यागकर उसके आश्रयभूत घोड़ा आदि में लक्षणा लेने से उस विरोध का परिहार होना सम्भव है, इस कारण यहाँ 'अजहत्-लक्षणा' सम्भव है।

अत्र तु परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-एकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तद्-अपरित्यागेन तत्-सम्बन्धिनो यस्य कस्यचित् अर्थस्य लक्षितत्वे अपि तद्-विरोध-परिहार-असम्भवात् अजहल्लक्षणा न सम्भवति एव।।१६६।।

– परन्तु यहाँ ('तत्त्वमसि' में) परोक्षता तथा अपरोक्षता आदि गुणोंवाले चैतन्य के एकत्वरूप वाक्यार्थ में विरोध होने के कारण, उसके अर्थ को न त्यागकर अन्य जो कोई अर्थ लक्षणा से गृहीत होने पर भी उपर्युक्त विरोध दूर करना सम्भव नहीं है, अत: यहाँ 'अजहत्-लक्षणा' भी सम्भव नहीं है।

न च तत्पदं त्वंपदं वा स्व-अर्थविरुद्ध-अंश-परित्यागेन अंश-अन्तर-सहितं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयतु अतः कथं प्रकार-अन्तरेण भाग-लक्षण-अङ्गीकरणम्-इति वाच्यम्।।१६७।।

– ऐसा भी कहना उचित नहीं है कि 'तत्' या 'त्वम्' शब्द अपने अर्थों

के विरुद्ध (परोक्षत्व और अपरोक्षत्व) अंशों का परित्याग कर, दूसरे अविरुद्ध अंश से युक्त त्वं-पदार्थ (चैतन्य) का या तत्-पदार्थ (चैतन्य का) बोधन कराएँ। अतः प्रकारान्तर से यहाँ 'भाग-लक्षणा' स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

एकेन पदेन स्वार्थ-अंश-पदार्थान्तर-उभय-लक्षणाया असम्भवात् पदान्तरेण तदर्थ-प्रतीतौ लक्षणया पुनः तत्-प्रतीति-अपेक्षा-अभावात् च।।१६८।।

– (क्योंकि) एक शब्द के द्वारा अपने (विरुद्ध) आंशिक अर्थ (का परित्याग) और साथ ही दूसरे अर्थ (की उपलब्धि) – दोनों में लक्षणा होना सम्भव नहीं है। (इसके अतिरिक्त) दूसरे शब्द से उस अर्थ का बोध होने में, फिर से लक्षणा के द्वारा उस अर्थ के बोध की अपेक्षा नहीं रहती।

तस्मात् यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्काल-एतत्काल-विशिष्ट-देवदत्त-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य अंशे विरोधात् विरुद्ध-तत्काल-एतत्काल-विशिष्ट-अंशं परित्यज्य अविरुद्धं देवदत्त-अंशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसि इति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-एकत्व-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य अंशे विरोधात् विरुद्ध-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-विशिष्ट-अंशं परित्यज्य अविरुद्धम् अखण्ड-चैतन्य-मात्रं लक्षयति इति।।१६९।।

– अतएव, जिस प्रकार 'यह वही देवदत्त है' – यह वाक्य या उसका अर्थ, तत् (भूत) काल तथा एतत् (वर्तमान) काल (गुणोंवाले) देवदत्त रूप वाक्यार्थ के अंश में अन्तर्विरोध होने के कारण, इसमें से 'तत्काल' और 'एतत्काल' विशिष्ट विरुद्ध अंश को त्यागकर, अविरुद्ध 'देवदत्त' अंश मात्र को ही प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य या उसका अर्थ अपने में 'परोक्षत्व-अपरोक्षत्व' आदि गुणोंवाले चैतन्य के साथ 'एकत्व' रूप वाक्यार्थ में अंश से विरोध उपस्थित होने के कारण, विरुद्ध 'परोक्ष-अपरोक्षत्व' गुणोंवाले अंशों का त्याग करके अविरुद्ध 'अखण्ड' चैतन्य मात्र को ही परिलक्षित करता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ

अथ अधुना 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. उ. १/४/१०) इति अनुभव-वाक्यार्थो वर्ण्यते।।१७०।।

– अब 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) – इस अनुभव-वाक्य का अर्थ कहा जाता है।

एवम् आचार्येण अध्यारोप-अपवाद-पुरःसरं तत्-त्वम्-पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येन अखण्डार्थे अवबोधिते अधिकारिणः अहं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभाव-परमानन्द-अनन्त-अद्वयं ब्रह्म अस्मि इति अखण्ड-आकार-आकारिता चित्तवृत्तिः उदेति।।१७१।।

– उपरोक्त रीति से जब आचार्य शिष्य को अध्यारोप तथा अपवाद के माध्यम से 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों के अर्थों का शोधन कराकर, उस वाक्य के द्वारा उसके 'अखण्ड' रूप तात्पर्य का बोध करा देते हैं, तब अधिकारी (शिष्य) में – 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाव, परमानन्द, अनन्त, अद्वय ब्रह्म हूँ' – ऐसी अखण्ड (ब्रह्म) रूप से बनी हुई चित्तवृत्ति का उदय होता है।

सा तु चित्-प्रतिबिम्ब-सहिता सती प्रत्यग्-अभिन्नम्-अज्ञातं परं-ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गत अज्ञानम् एव बाधते। तदा पट-कारण-तन्तुदाहे पट-दाहवत् अखिल-कारणे अज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्य अखिलस्य बाधितत्वात् तद्-अन्तर्भूत अखण्ड-आकार-आकारिता चित्तवृत्तिः अपि बाधिता भवति ।।१७२।।

– (जब) वह (अखण्डाकार चित्तवृत्ति) (शुद्ध) चैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त (आलोकित) होकर अन्तरात्मा से अभिन्न, अज्ञात परब्रह्म को विषय बनाकर उसमें निहित मात्र अज्ञान को ही बाधित (नष्ट) करती है, तब जैसे वस्त्र के कारण-रूप धागे के जल जाने पर (उससे बना) वस्त्र भी जल जाता है, वैसे ही अज्ञान का नाश हो जाने पर उसके समस्त कार्य (संसार) भी नष्ट हो जाते हैं, अतः उसके अन्तर्भूत अखण्डाकार-आकारित चित्तवृत्ति भी बाधित

(नष्ट) हो जाती है।

तत्र (वृत्तौ) प्रतिविम्बितं चैतन्यम् अपि यथा (प्र)दीप-प्रभा आदित्य-प्रभा-अवभासन-असमर्था सती तया अभिभूता भवति तथा स्वयम्-प्रकाशमान-प्रत्यग्-अभिन्न-परब्रह्म-अवभासन-अनर्हतया तेन अभिभूतं सत् स्वोपाधि-भूत-अखण्ड-वृत्तेः बाधितत्वात् दर्पण अभावे मुख-प्रतिविम्बस्य मुख-मात्रत्ववत् प्रत्यग्-अभिन्न-परब्रह्म-मात्रं भवति।।१७३।।

– जिस प्रकार एक दीपक का आलोक सूर्य की प्रभा को आलोकित करने में असमर्थ होकर (स्वयं ही) उससे अभिभूत हो जाता है, उसी प्रकार वहाँ (अखण्ड-आकार-आकारित वृत्ति में) प्रतिविम्बित चैतन्य भी स्वयं-प्रकाशमान अन्तरात्मा से अभिन्न परब्रह्म को आलोकित करने में असमर्थ होने के कारण उससे अभिभूत होकर, अपनी उपाधिभूत अखण्ड वृत्ति के नष्ट हो जाने पर, दर्पण के अभाव में मुख का प्रतिविम्ब मुखमात्र में ही रह जाने के समान प्रत्यक् (अन्तरात्मा) से अभिन्न, परब्रह्म मात्र ही रह जाता है।

एवं च सति 'मनसा एव अनुद्रष्टव्यं' (बृ.उ. ४/४/१९) 'यन्-मनसा न मनुते' (के.उ. १/५) इति अनयोः श्रुत्योः अविरोधो, वृत्ति-व्याप्यत्व-अङ्गीकारेण फल-व्याप्यत्व-प्रतिषेध-प्रतिपादनात्।।१७४।।

– ऐसी अवस्था में 'यह केवल मन के द्वारा देखे जाने योग्य है' – एवं 'जिसका मन के द्वारा चिन्तन नहीं किया जा सकता' – इन दोनों श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि यहाँ (अखण्डाकार वृत्ति में) उसके फल (प्रतिविम्बित चैतन्य) की व्याप्ति का निषेध करके चित्तवृत्ति के (द्वारा) व्याप्त होना स्वीकार किया गया है।

तद्-उक्तं – 'फल-व्याप्यत्वम्-एव-अस्य शास्त्रकृद्भिः निवारितम्। ब्रह्मणि अज्ञान-नाशाय वृत्तिव्याप्तिः अपेक्षिता।।' इति।। (पंचदशी ६/९०)।।१७५।।

– कहा भी गया है – 'शास्त्रकारों ने फल (वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य) द्वारा ब्रह्म में व्याप्तता (प्रकाश्यता) का निषेध किया है। (परन्तु वे स्वीकार करते हैं कि) ब्रह्म के अज्ञाननाश हेतु ही चित्तवृत्ति के व्याप्तता की आवश्यकता है।'

'स्वयम्-प्रकाशमानत्वात् न आभास उपयुज्यते।' इति च। (पंचदशी ६/९२)।।१७६।।

– 'स्वयंप्रकाश होने के कारण उस (परब्रह्म) को प्रकाशित होने के लिए चैतन्य-प्रभा (प्रकाश) की कोई जरूरत नहीं होती।' – ऐसा भी (कहा गया है)।

जड-पदार्थ-आकार-आकारित-चित्तवृत्तेः विशेषो अस्ति।।१७७।।

– परन्तु यह (अखण्डाकार-आकारित ब्रह्म विषयक चित्तवृत्ति) जड़ पदार्थों के आकार में बनी चित्तवृत्तियों से भिन्न है।

तथा हि। अयं घट इति घटाकार-आकारित-चित्तवृत्तिः अज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गत-अज्ञान-निरसन-पुरःसरं स्वगत-चिद्-आभासेन जडं घटम् अपि भासयति।।१७८।।

– उदाहरणार्थ – 'यह घड़ा है' – इस बोध में घट के आकार में उत्पन्न चित्तवृत्ति, अज्ञात घट को विषय करके उस घट विषयक अज्ञान का नाश करती हुई, अपने चिदाभास (प्रतिबिम्बित चैतन्य) के द्वारा घट रूपी जड़ पदार्थ को भी प्रकाशित करती है।

तदुक्तं – 'बुद्धितत्स्थ-चिदाभासौ द्वौ अपि व्याप्नुतो घटम्। तत्र अज्ञानं धिया नश्येद्-आभासेन घटः स्फुरेत्।।' इति (पंचदशी, ७/९१)।।१७९।।

– कहा भी है – 'बुद्धिवृत्ति तथा उसमें स्थित (प्रतिबिम्बित) चैतन्य का आभास दोनों ही घट के सम्पर्क में आते है (उसे व्याप्त करते हैं)। इनमें बुद्धिवृत्ति (घट विषयक) अज्ञान का नाश करती है और उसमें स्थित (प्रतिबिम्बित) चैतन्य से घट का प्रकाशन होता है।'

यथा दीप-प्रभा-मण्डलम् अन्धकार-गतं घट-पट-आदिकं विषयीकृत्य तद्गत-अन्धकार-निरसन-पुरःसरं स्वप्रभया तद्-अपि भासयति इति।।१८०।।

– ठीक उसी प्रकार, जैसे कि दीपक का प्रकाश, अन्धकार में स्थित (आच्छन्न) घट, पट आदि विषयों के ऊपर छाये अन्धकार का निराकरण करते हुए अपने आलोक से उन्हें भी उद्भासित (आलोकित) करता है।

□□□

अध्याय ५

आत्मज्ञान के साधन

एवंभूत-स्व-स्वरूप-चैतन्य-साक्षात्कार-पर्यन्तं श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाधि-अनुष्ठानस्य अपेक्षितत्वात् ते अपि प्रदर्श्यन्ते।।१८१।।

– उपरोक्त प्रकार के अपने चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि के अभ्यास (आवृत्ति) की आवश्यकता होने के कारण, उनका भी निरूपण किया जाता है।

श्रवणं नाम षड्विध-लिङ्गैः अशेष-वेदान्तानाम् अद्वितीय-वस्तुनि तात्पर्य-अवधारणम्।।१८२।।

– छह प्रकार के लिङ्गों[१९] (लक्षणों या चिह्नों) के द्वारा सम्पूण वेदान्त का तात्पर्य (लक्ष्य) अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) है – ऐसी धारणा (निर्धारण करना) – *'श्रवण'* कहलाता है।

लिङ्गानि तु उपक्रम-उपसंहार-अभ्यास-अपूर्वता-फल-अर्थवाद-उपपत्ति-आख्यानि।।१८३।।

– वे लिङ्ग हैं – (१) उपक्रम (आरम्भ) और उपसंहार (समाप्ति), (२) अभ्यास (अनेक बार कथन), (३) अपूर्वता (नई बात का कथन) (४) फल, (५) अर्थवाद (प्रशंसा) और (६) उपपत्ति (निदर्शन, युक्ति)।

तद्-उक्तं – 'उपक्रम-उपसंहारौ-अभ्यासो-अपूर्वता फलम्। अर्थवाद-उपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य-निर्णये'।।१८४।।

---

१९. लिङ्ग – छिपे हुए अर्थ को प्रकट करनेवाला।

– कहा भी है – "(उपदेश के) तात्पर्य का निर्धारण करने के लिये – उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति – ये लिङ्ग हैं।

(तत्र) प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अर्थस्य तद्-आदि-अन्तयोः उपपादनम् उपक्रम-उपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठ-अध्याये प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अद्वितीय-वस्तुन 'एकम्-एव-अद्वितीयम्' (छा.उ ६/२/१) इति आदौ 'ऐतद्-आत्म्यम्-इदं सर्वम्' (छा.उ. ६/८/७) इति अन्ते च प्रतिपादनम्।।१८५।।

– (इनमें प्रथम) प्रकरण में प्रतिपाद्य विषयवस्तु का प्रकरण के आदि और अन्त में प्रतिपादन करना – *'उपक्रमोपसंहार'* (नामक लिङ्ग) कहलाता है। उदाहरणार्थ – छान्दोग्य उपनिषद् के छठें अध्याय में उस प्रकरण के प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का अध्याय के आरम्भ में "द्वितीय से रहित एक है" कहकर और अन्त में भी "यह सब कुछ आत्मा ही है" – के रूप में उसी 'अद्वितीय वस्तु' (ब्रह्म) का प्रतिपादन है।

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनम् अभ्यासः। यथा तत्रैव अद्वितीय-वस्तुनि मध्ये तत्त्वमसि इति नवकृत्वः प्रतिपादनम्।।१८६।।

– (द्वितीय) प्रकरण के प्रतिपाद्य (विषय) का प्रकरण के अन्दर बारम्बार प्रतिपादन *'अभ्यास'* कहलाता है। उदारणार्थ – वहीं (पूर्वोक्त अध्याय में) 'तत्त्वमसि' के रूप में नौ बार उस 'अद्वैत वस्तु' (ब्रह्म) का प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अद्वितीय-वस्तुनः प्रमाणान्तर-अविषयीकरणम् अपूर्वता। यथा तत्रैव अद्वितीय-वस्तुनो मानान्तर-अविषयीकरणम्।।१८७।।

– (तृतीय) प्रकरण के प्रतिपाद्य (विषय) को (आगम के अतिरिक्त) किसी अन्य प्रमाण का विषय न होना (के द्वारा अनुपलब्धता) *'अपूर्वता'* कहलाता

है। उदाहरणार्थ – पूर्वोक्त (छान्दोग्य उपनिषद् के छठें) अध्याय में ही उस 'अद्वैत वस्तु' (ब्रह्म) का किसी अन्य प्रमाण का विषय न होना।

फलं तु प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य आत्मज्ञानस्य तद्-अनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावद्-एव चिरं यावत्-न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' (छा.उ. ६/१४/२) **इति अद्वितीय-वस्तु-ज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनम् श्रूयते।।१८८।।**

– (चतुर्थ) प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय (आत्मज्ञान) या उसके अनुष्ठान (साधन) के विभिन्न स्थानों में उल्लेखित प्रयोजन को *'फल'* कहते हैं। यथा – पूर्वोक्त अध्याय में ही – "आचार्यवान व्यक्ति ही (ब्रह्म को) जानता है, उसकी मोक्ष-प्राप्ति में उतनी ही देर है, जब तक कि वह देह-बन्धन से नहीं छूटता। उसके बाद वह ब्रह्म से एक हो जाता है।" – यहाँ अद्वय वस्तु (ब्रह्म) के ज्ञान का प्रयोजन 'ब्रह्म-प्राप्ति' बताया गया है।

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनम् अर्थवादः। यथा तत्रैव 'उत तम् आदेशम् अप्राक्ष्यो येन अश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतम् अविज्ञातं विज्ञातम्' (छा.उ. ६/१/३) **इति अद्वितीय-वस्तु-प्रशंसनम्।।१८९।।**

– (पंचम) प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय (ब्रह्म) की विभिन्न स्थानों में प्रशंसा को *'अर्थवाद'* कहते हैं। उसी प्रकरण में आचार्य शिष्य से कहते हैं – "तुमने उस उपदेश के बारे में पूछा है, जिसके सुनने से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, अचिन्तित वस्तु भी चिन्तित हो जाती है, अज्ञात वस्तु भी जानने में आ जाती है।" इस प्रकार अद्वय वस्तु (ब्रह्म) की प्रशंसा किया जाना।

प्रकरण-प्रतिपाद्य-अर्थसाधने तत्र तत्र श्रुयमाणा युक्तिः उपपत्तिः। यथा तत्र 'यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इति एव सत्यम्' (६/१/४) **इत्यादौ अद्वितीय-वस्तु-साधने विकारस्य वाचारम्भण-मात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।।१९०।।**

– (षष्ठ) प्रकरण के प्रतिपाद्य (विषय) को सिद्ध करने के लिए दी

जानेवाली विभिन्न प्रकार की युक्तियों को *'उपपत्ति'* कहते हैं। यथा उसी प्रकरण में आचार्य शिष्य से कहते हैं – "हे सौम्य, जैसे मिट्टी के एक पिण्ड (लौंदे) को जान लेने पर मिट्टी से बने (घट आदि) समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, उसके प्रत्येक विकार (रूप, आकार) वाणी का प्रयास मात्र है, (वस्तुत:) केवल मिट्टी ही सत्य है।" आदि (श्रुतियों) में अद्वय (ब्रह्म) वस्तु के प्रतिपादन में विकार (विभिन्न रूपों) को वाणी का प्रयास मात्र होने की युक्ति दी गयी है।

मनन तथा निदिध्यासन (ध्यान)

मननं तु श्रुतस्य अद्वितीय-वस्तुनो वेदान्त-अनुगुण-युक्तिभिः अनवरतम्-अनुचिन्तनम्।।१९१।।

– वेदान्त के अनुकूल युक्तियों के द्वारा, (आचार्य से) सुनी हुई अद्वय (ब्रह्म) वस्तु का निरन्तर अनुचिन्तन करने को *'मनन'* कहते हैं।

विजातीय-देहादि-प्रत्यय-रहित-अद्वितीय-वस्तु-सजातीय-प्रत्यय-प्रवाहो निदिध्यासनम्।।१९२।।

– अद्वय ब्रह्म वस्तु के विजातीय (विपरीत) देह (मन) आदि की वृत्तियों से रहित, उस (ब्रह्म) के सजातीय (समान) वृत्तियों के प्रवाह को *'निदिध्यासन'* कहते हैं।

समाधि का स्वरूप और भेद

समाधिः द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकः च इति।।१९३।।

– समाधि के दो प्रकार हैं – सविकल्प तथा निर्विकल्प।

तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृ-ज्ञान-आदि-विकल्प-लय-अनपेक्षया अद्वितीय-वस्तुनि तद्-आकार-आकारितायाः चित्तवृत्तेः अवस्थानम्।।१९४।।

– सविकल्प समाधि वह है, जिसमें ज्ञाता-ज्ञान आदि (त्रिपुटी) विकल्पों के लय हुए बिना ही चित्तवृत्ति अद्वय (ब्रह्म) वस्तु में तदाकार-आकारित होकर अवस्थान करती है। (इसे सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।)

तदा मृन्मय-गज-आदि-भाने अपि मृद्-भानवत् द्वैतभाने अपि अद्वैतं वस्तु भासते।।१९५।।

– जैसे मिट्टी के हाथी आदि (नाम-रूप) का बोध रहने के बावजूद, (उसके उपादान) मिट्टी का बोध होता रहता है, वैसे ही इस अवस्था में नानात्व-बोध के रहते हुए भी अद्वय (ब्रह्म) वस्तु का बोध होता रहता है।

तद्-उक्तं – 'दृशि-स्वरूपं गगनोपमं परं, सकृद्-विभातं तु अजम्-एकम्-अक्षरम्। अलेपकं सर्वगतं यद्-अद्वयं, तद्-एव च अहं सततं विमुक्तम्-ओम्।।' इति (उपदेश-साहस्री ७३/१०/१)**।।१९६।।**

– कहा भी गया है – "जो द्रष्टास्वरूप, आकाशवत्, परम (सर्वोपरि), सदाप्रकाश (चिर-ज्योतिर्मय), अजन्मा, एक, अक्षर, निर्लिप्त, सर्वव्यापी, अद्वितीय, नित्यमुक्त (वस्तु) है, वही मैं हूँ।"

निर्विकल्पकः तु ज्ञातृ-ज्ञान-आदि-विकल्प-लय-अपेक्षया अद्वितीय-वस्तुनि तद्-आकार-आकारितायाः चित्तवृत्तेः अतितराम् एकीभावेन अवस्थानम्।।१९७।।

– निर्विकल्प समाधि वह अवस्था है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान आदि के विकल्प (भेद) का लय (नाश) होकर चित्तवृत्ति अद्वैत (ब्रह्म) वस्तु में तदाकार-आकारित होकर अत्यन्त एकत्व भाव से स्थित रहती है।

तदा तु जलाकार-आकारित-लवण-अनवभासेन जलमात्र-अवभासवत् अद्वितीय-वस्तु-आकार-आकारित-चित्तवृत्ति-अनवभासेन अद्वितीय-वस्तुमात्रम् अवभासते।।१९८।।

– तब जिस प्रकार जलाकार में बना नमक अदृश्य होकर केवल जलमात्र ही भासित होता है, उसी प्रकार अद्वय ब्रह्म वस्तु में तदाकार-आकारित चित्तवृत्ति लुप्त होकर, केवल अद्वय ब्रह्म (वस्तु) ही प्रकाशित होता रहता है।

समाधि और निद्रा

ततः च अस्य सुषुप्तेः च अभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्ति-

अभाने समाने अपि तत्सद्‌भाव-असद्‌भाव-मात्रेण अनयोः भेद-उपपत्तेः।।१९९।।

– अतः इस (निर्विकल्प समाधि) के सुषुप्ति (गहरी निद्रा) के साथ अभिन्नता की शंका नहीं है, क्योंकि यद्यपि इन दोनों में समान रूप से चित्त-वृत्ति का वोध नहीं होता, तथापि (निर्विकल्प में) उसका अस्तित्व और (सुषुप्ति में) उसका अभाव – इतना ही इन दोनों के वीच भेद है।

निर्विकल्प समाधि के अन्तरंग साधन

अस्य अङ्गानि यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः।।२००।।

– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा (सविकल्प) समाधि – ये इस (निर्विकल्प) समाधि के अंग हैं।

तत्र 'अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः'।।२०१।।

– इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (ग्रहण न करना) – ये *'यम'* कहलाते हैं।

'शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधानानि' नियमाः।।२०२।।

– शौच (देह-मन की स्वच्छता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, तथा ईश्वर की उपासना – ये *'नियम'* कहलाते हैं।

कर-चरणादि-संस्थान-विशेष-लक्षणानि पद्म-स्वस्तिक-आदीनि आसनानि।।२०३।।

– हाथ-पाँव आदि (अंगों) को विशिष्ट प्रकार से रखना, जैसे पद्म, स्वस्तिक आदि – *'आसन'* कहलाते हैं।

रेचक-पूरक-कुम्भक-लक्षणाः प्राण-निग्रह-उपायाः प्राणायामाः।।२०४।।

– रेचक, पूरक, कुम्भक के रूप में प्राण (वायु) के निग्रह (वश में लाने) के उपायों को *'प्राणायाम'* कहते हैं।

इन्द्रियाणां स्व-स्व-विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः।।२०५।।

– इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से वापस खींचने को *'प्रत्याहार'* कहते हैं।

अद्वितीय-वस्तुनि अन्तः-इन्द्रिय-धारणं धारणा।।२०६।।

– अन्तः इन्द्रिय अर्थात् मन को अद्वय (ब्रह्म) वस्तु में लगाना *'धारणा'* है।

तत्र अद्वितीय-वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य अन्तः-इन्द्रिय-वृत्ति-प्रवाहो ध्यानम्।।२०७।।

– मन की वृत्तियों का विच्छिन्न भाव से (रुक रुक कर) अद्वय (ब्रह्म) वस्तु में प्रवाहित होना *'ध्यान'* कहलाता है।

समाधिः तु उक्तः सविकल्पक एव।।२०८।।

– पूर्वोक्त सविकल्प अवस्था को ही यहाँ *'समाधि'* कहते हैं। (समाधि पहले ही सविकल्प के रूप में वर्णित हो चुकी है।)

समाधि में बाधाएँ व उनका निराकरण

एवम् अस्य अङ्गिनः निर्विकल्पकस्य लय-विक्षेप-कषाय-रसास्वाद-लक्षणाः चत्वारः विघ्नाः सम्भवन्ति।।२०९।।

– इस प्रकार (आठ) अंगोंवाले निर्विकल्प (समाधि) की उपलब्धि में – लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वाद के रूप में चार (प्रकार की) 'बाधाएँ' आ सकती हैं।

लयः तावत् अखण्ड-वस्तु-अनवलम्बनेन चित्तवृत्तेः निद्रा।।२१०।।

– इनमें से चित्तवृत्ति का अखण्ड (ब्रह्म) वस्तु का आश्रय लेने में असमर्थ होकर निद्रावस्था में डूब जाना- *'लय'* कहलाता है।

अखण्ड-वस्तु-अनवलम्बनेन चित्तवृत्तेः अन्य अवलम्बनं विक्षेपः।।२११।।

– चित्तवृत्ति का अखण्ड (ब्रह्म) वस्तु को छोड़कर अन्य (विषय) का आश्रय लेना – *'विक्षेप'* कहलाता है।

लय-विक्षेप-अभावे अपि चित्तवृत्तेः राग-आदि-वासनया स्तब्धीभावाद् अखण्ड-वस्तु-अनवलम्बनं कषायः।।२१२।।

– लय तथा विक्षेप के न रहने पर भी, राग (आसक्ति) आदि वासनाओं (संस्कारों) से चित्तवृत्ति का स्तब्ध होकर अखण्ड (ब्रह्म) वस्तु का आश्रय न लेना – *'कषाय'* (कसेलापन) कहलाता है।

अखण्ड-वस्तु-अनवलम्बनेन अपि चित्तवृत्तेः सविकल्पक-आनन्द-आस्वादनं रसास्वादः। समाधि-आरम्भ-समये सविकल्पक-आनन्द-आस्वादनं वा।।२१३।।

– चित्तवृत्ति का अखण्ड (ब्रह्म) वस्तु का आश्रय लिए विना ही सविकल्प समाधि का आनन्द लेना अथवा निर्विकल्प समाधि आरम्भ होने पर भी सविकल्प का आनन्द लेते रहना – *'रसास्वाद'* कहलाता है।

अनेन विघ्न-चतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वात-दीपवत् अचलं सत् अखण्ड-चैतन्य-मात्रम् अवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिः इति उच्यते।।२१४।।

– चित्त जब उपरोक्त चार प्रकार के विघ्नों से मुक्त होकर, वायुरहित स्थान में रखे दीपक के समान अचल (स्थिर) होकर, केवल अखण्ड चैतन्य होकर अवस्थित होता है, तब उसे 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं।

यद्-उक्तं – 'लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः। सकषायं विजानीयात् सम-प्राप्तं न चालयेत्।। न आस्वादयेद् रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।' इति च (गौड़पाद-कारिका ३/४४-४५) **'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।' इति च** (गीता, ६/१९)**।।२१५।।**

– कहा भी गया है – "चित्त को लय के समय जगाना चाहिए, विक्षिप्त हो जाने पर शान्त करना चाहिए, कषाय (आसक्त) हो जाने पर उसे समझाना चाहिए तथा उस शान्त हुए को चंचल (विचलित) होने से रोकना चाहिए। और

सविकल्प में रसास्वादन न करते हुए, विवेक के द्वारा निःसंग हो जाना चाहिए।" तथा – "जैसे वायुरहित स्थान में दीप की लौ हिलती-डुलती नहीं, उसी से (योगी के समाहित चित्त की) उपमा दी गई है।"

□□□

अध्याय ६

जीवन्मुक्त के लक्षण

अथ जीवन्मुक्त-लक्षणम्-उच्यते।।२१६।।

– अब जीवन्मुक्त[२०] के लक्षण बताये जाते हैं।

जीवन्मुक्तो नाम स्व-स्वरूप-अखण्ड-ब्रह्मज्ञानेन तद्-अज्ञान-बाधन-द्वारा स्व-स्वरूप-अखण्ड-ब्रह्मणि साक्षात्कृते-अज्ञान-तत्कार्य-सञ्चितकर्म-संशय-विपर्यय-आदीनाम् अपि बाधितत्वाद् अखिल-बन्ध-रहितो ब्रह्मनिष्ठः।।२१७।।

– जो अपने अखण्ड ब्रह्म-स्वरूप के ज्ञान द्वारा, उस विषय-वाले अज्ञान को नष्ट करके, अपने अखण्ड ब्रह्म-स्वरूप का साक्षात्कार करके, अज्ञान तथा उसके कार्य – संचित कर्म, संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान या भ्रान्तियों) आदि का भी नाश हो जाने से, समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है – ऐसे ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति को 'जीवन्मुक्त' कहते हैं।[२१]

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।' (मुण्डक. उ. २/२/८) **इत्यादि-श्रुतेः।।२१८।।**

– "उन परावर (अवर या कार्य ब्रह्म तथा पर अर्थात् कारण या शुद्ध) ब्रह्म का दर्शन होने पर हृदय की गाँठ कट जाती है, समस्त संशय छिन्न-

---

२०. जीवन्मुक्त = शरीर में रहते हुए ही मुक्ति का अनुभव करनेवाला। जगन्मिथ्यात्व-बोधेन आत्म-सत्यत्व निश्चयः जीवन्मुक्तता – (देहमान रहते हुए भी) आत्म-सत्यता के बोध के साथ ही जगत् के मिथ्यात्व का भी बोध रहना जीवन्मुक्तता का लक्षण है।

२१. जीवन्मुक्त के संचित तथा आगामी कर्म नष्ट हो जाते हैं, परन्तु प्रारब्ध शेष रहने तक उसी से जीवन-यात्रा चलती है।

भिन्न हो जाते हैं, उसके सारे (पूर्व) कर्मों का भी क्षय हो जाता है" – आदि श्रुतियों में द्रष्टव्य हैं।

अयं तु व्युत्थान-समये मांस-शोणित-मूत्र-पुरीष-आदि-भाजनेन शरीरेण, आन्ध्य-मान्द्य-अपटुत्व-आदि-भाजनेन इन्द्रिय-ग्रामेण, अशना-पिपासा-शोक-मोह-आदि-भाजनेन अन्तःकरणेन च, पूर्व-पूर्व-वासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञान-अविरुद्ध-आरब्ध-फलानि च पश्यन्-अपि बाधितत्वात् परमार्थतो न पश्यति। यथा इन्द्रजालम् इति ज्ञानवान् तद्-इन्द्रजालं पश्यन्-अपि परमार्थम् इदम् इति न पश्यति।।२१९।।

– ऐसा (जीवन्मुक्त) समाधि से व्युत्थित होने (जाग्रत अवस्था में आने) पर मांस, रक्त, मल, मूत्र आदि के भाजन (आधार) रूप शरीर; अन्धता, दुर्बलता, अकुशलता आदि के आधार रूप इन्द्रियों; और भूख-प्यास-शोक-मोह आदि के आधार रूप अन्तःकरण के द्वारा; पुरानी वासनाओं के फलस्वरूप (संस्कारों के वेग से हो रहे) क्रियमाण कर्मों और ज्ञान के साथ अविरोधी तथा भोगे जा रहे प्रारब्ध कर्मफलों को देखते हुए भी उन्हें सत्यत्व-बुद्धि से नहीं देखता है, क्योंकि उनका वैसे ही बाध (मिथ्यात्व निश्चय) हो चुका है, जैसे कि जादू का खेल देखते हुए भी 'यह इन्द्रजाल है' – ऐसा जाननेवाला व्यक्ति 'यह सत्य है' – ऐसा नहीं देखता।

'सचक्षुः अचक्षुः इव सकर्णः अकर्ण इव' इत्यादि-श्रुतेः।।२२०।।

– जैसा कि "वह नेत्रवाला होकर भी नेत्रहीन के समान है और कानोंवाला होकर भी कर्णहीन के समान है।" आदि श्रुतियों में बताया गया है।

उक्तं च – 'सुषुप्तवत्-जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्-अपि च अद्वयत्वतः। तथा च कुर्वन्-अपि निष्क्रियः च यः, स आत्मवित् न अन्य इति इह निश्चयः।।' इति (उपदेश-साहस्त्री, ५)**।।२२१।।**

– कहा भी है – "जो जागते हुए भी सोये हुए के समान देखता नहीं, जो केवल अद्वैत में स्थित होने के कारण द्वैत को नहीं देखता और जो कर्म

करते हुए भी निष्क्रिय है, इस जगत में निश्चय ही वही आत्मज्ञानी है, अन्य कोई नहीं।"

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानाम् एव आहार-विहार-आदीनाम् अनुवृत्तिवत् शुभ वासनानाम् एव अनुवृत्तिः भवति शुभ-अशुभयोः औदासीन्यं वा।।२२२।।

– उस (जीवन्मुक्त) में ज्ञान होने के पूर्व के जो आहार-विहार आदि थे, उनकी अनुवृत्ति (बारम्बार प्रवृत्ति) की तरह शुभ वासनाओं (संस्कारों) की ही अनुवृत्ति होती है, या फिर शुभ तथा अशुभ – दोनों के प्रति उदासीनता आ जाती है।[२२]

तद्-उक्तं – 'बुद्ध-अद्वैत-सतत्त्वस्य यथेष्ट-आचरणं यदि, शुनां तत्त्वदृशां च एव को भेदो अशुचि-भक्षणे' इति।। (नैष्कर्म्य-सिद्धिः, ४/६२) **'ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः' इति च** (उपदेश-साहस्री, ११५)**।।२२३।।**

– जैसा कि कहा गया है – "जिसने अद्वैत तत्त्व को जान लिया है, वह यदि यथेच्छाचार करने लगे, तो फिर अपवित्र का भक्षण करनेवाले कुत्ते तथा ज्ञानियों में भेद ही क्या रहा?" और "जो 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' – इस अहंकार को भी त्याग देता है, वही ब्रह्मज्ञानी है, दूसरा कोई नहीं।"

तदानीम् अमानित्व-आदीनि ज्ञान-साधनानि अद्वेष्टृत्व-आदयः सद्गुणाः च अलङ्कारवत् अनुवर्तन्ते।।२२४।।

– तब (ज्ञान के बाद) विनय आदि ज्ञान के साधन और ईर्ष्या-राहित्य, अहिंसा आदि सद्गुण अलंकारों के समान उनके साथ रह जाते हैं।

तद्-उक्तं – उत्पन्न-आत्म-अवबोधस्य हि अद्वेष्टृत्व-आदयो गुणाः। अयत्नतो भवन्ति अस्य न तु साधन-रूपिणः।। इति (नैष्कर्म्य-सिद्धिः ४/६९)**।।२२५।।**

---

२२. शम-दम के द्वारा अशुभ वृत्तियों का पहले ही नाश हो चुका है, क्योंकि वह विधि-निषेध के परे जा चुका है – निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

– कहा भी है – "आत्मबोध उत्पन्न हुए (सिद्ध) व्यक्ति में अहिंसा, द्वेषहीनता आदि गुण साधनों के रूप में नहीं, अपितु सहज रूप से आ जाते हैं।"

कैवल्य अथवा पूर्णता

किं बहुना अयं देहयात्रा-मात्र-अर्थम् इच्छा-अनिच्छा-परेच्छा-प्रापितानि सुख-दुःख-लक्षणानि आरब्ध-फलानि अनुभवत् अन्तः-करण-आभास-आदीनाम् अवभासकः सन् तद्-अवसाने प्रत्यगानन्द-पर-ब्रह्मणि प्राणे लीने सति अज्ञान-तत्कार्य-संस्काराणाम्-अपि विनाशात् परम-कैवल्यम् आनन्द-एकरसम् अखिल-भेद-प्रतिभास-रहितम् अखण्ड-ब्रह्म-अवतिष्ठते।।२२६।।

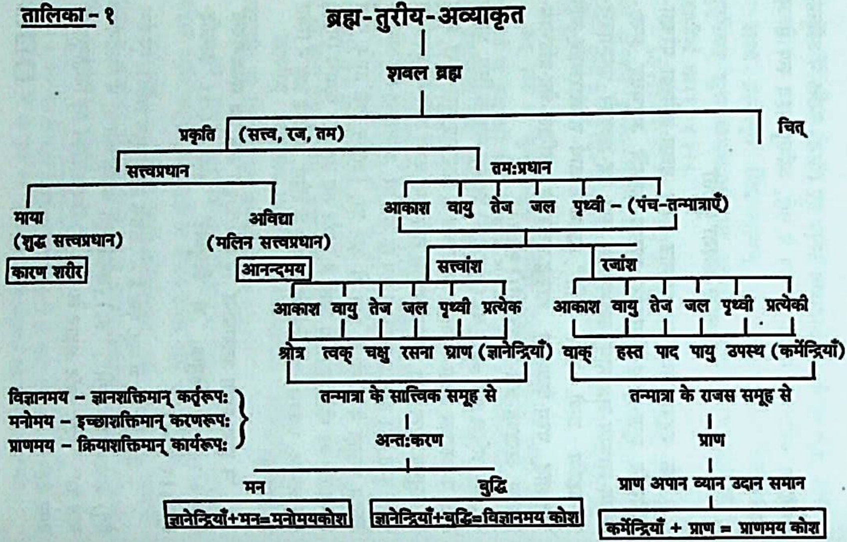
– अधिक क्या कहें? वह (जीवन्मुक्त) देहयात्रा मात्र के लिए, प्रारब्ध फलों के अनुसार इच्छा-अनिच्छा या परेच्छा से लाए गए सुख-दुःख आदि का अनुभव करता हुआ, मिथ्या आभास रूपी अन्तःकरण आदि को प्रकाशित करता हुआ और उस (प्रारब्ध) का क्षय हो जाने पर, अन्तरात्मा-रूप आनन्द-स्वरूप परब्रह्म में प्राणों के लीन हो जाने पर; [अज्ञान तथा उसके कार्य (संस्कारों) का भी विनाश हो जाता है;] और तब वह परम कैवल्य (मोक्ष) रूप आनन्द, एकरस, सर्व भेदों के आभास से रहित, अखण्ड ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ.उ. ४/४/६) **'अत्र एव समवनीयन्ते'** (बृ.उ. ३/२/११) **'विमुक्तः च विमुच्यते'** (कठ.उ. ५/१) **इत्यादि-श्रुतेः।।२२७।।**

– जैसा कि वेद में कहा गया है – "उसके प्राण (सूक्ष्म शरीर) (पुनर्जन्म हेतु) अन्यत्र नहीं जाते।"; "उसी (समष्टि भूत अथवा कारण) में विलीन हो जाते हैं।"; "(देह आदि अज्ञान के कार्य से) वियुक्त होकर वह विदेहमुक्त हो जाता है।"

□□□

तालिका - १



लिंगशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर = पंचज्ञानेन्द्रियाँ + पंचकर्मेन्द्रियाँ + पंचप्राण + मन + बुद्धि = मनोमय + विज्ञानमय + प्राणमय

<u>तालिका</u> - २

(अ) पंचीकरण (सर्वमान्य पद्धती)

	आकाश तन्मात्र	वायु तन्मात्र	तेज तन्मात्र	जल तन्मात्र	पृथ्वी तन्मात्र
आकाश	(१।२)	१।८	१।८	१।८	१।८
वायु	१।८	(१।२)	१।८	१।८	१।८
तेज	१।८	१।८	(१।२)	१।८	१।८
जल	१।८	२।८	१।८	(१।२)	१।८
पृथ्वी	१।८	१।८	१।८	१।८	(१।२)

(ब) पंचीकरण (दुसरी पद्धती)

	आकाश तन्मात्र	वायु तन्मात्र	तेज तन्मात्र	जल तन्मात्र	पृथ्वी तन्मात्र
आकाश	२१/२५	१/२५	१/२५	१/२५	१/२५
वायु	१/२५	२१/२५	१/२५	१/२५	१/२५
तेज	१/२५	१/२५	२१/२५	१/२५	१/२५
जल	१/२५	१/२५	१/२५	२१/२५	१/२५
पृथ्वी	२१/२५	१/२५	१/२५	१/२५	२१/२५

तालिका – ३

- स्थूल शरीर
  - व्यष्टि — विश्व (जाग्रत)
  - समष्टि — वैश्वानर-विराट्
- लिंग शरीर
  - व्यष्टि — तैजस – (स्वप्न)
  - समष्टि — हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, प्राण
- कारण शरीर
  - व्यष्टि — अविद्या – (सुषुप्ति)
  - समष्टि, — माया — ईश्वर

नोट – तालिका संख्या १ में 'चित्' या चैतन्य अलग से दिखाया गया है, तथापि चैतन्य को सबमें ओतप्रोत समझना चाहिए।

वेदान्त का उद्देश्य ही
इन सब वस्तुओं में
भगवान् का दर्शन करना है,
उनका जो रूप आपाततः प्रतीत होता है,
वह न देखकर उनको
उनके प्रकृत स्वरूप में जानना है।

- स्वामी विवेकानन्द

(H-164) Vedanta-Sar : Rs. 18.00